THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

क्रमांक 1337
दिनांक

जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान

संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय
में आयोजित संगोष्ठी के शोध-पत्र

संपादक: डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी
डॉ. प्रेम सुमन जैन

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान

मूल्य : बारह रुपये/प्रथम संस्करण, १९७६/प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक,
आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)/मुद्रक : भारती प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

JAIN VIDYA KA SANSKRITIK AVDAN Rs. 12.00

भारतीय विद्या एवं जैन प्रज्ञा के प्रकाण्ड मनीषी

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

(निर्वाण दिवस ८ अक्तूबर, १९७५)

की

पुण्य स्मृति में श्रद्धांजलि

आशीर्वचन

जैन तत्त्व विद्या समाधि की विद्या है। समाधि योग की उपलब्धि जागृत चेतना की तीव्रतम अभीप्सा है। जैन विद्या के पारगामी विद्वान, उपदेष्टा और अध्येता सबसे पहले प्रज्ञा-समाधि की दिशा में प्रयाण करते हैं। प्रज्ञा-समाधि का प्रथम बिन्दु है यथार्थ की अवगति और अन्तिम बिन्दु है यथार्थ में अवस्थिति। अवगति और अवस्थिति के बीच में समाधि-यात्रा के अनेक पड़ाव हैं। इस यात्रा से गुजरने वाला पथिक अनेक प्रकार की अनुभूतियों के वलय में परिक्रमा करता है। उस परिक्रमा से कुछ घटित होता है और कुछ विघटित हो जाता है। घटक और विघटक परिस्थितियों की निष्पत्ति राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना को भी प्रभावित करती है।

जैन विद्या अपने आप में विलक्षण है, इसलिए उसका सांस्कृतिक अवदान भी विलक्षण है। जैन संस्कृति में अन्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने से उस विलक्षणता में थोड़ा अन्तर आ सकता है पर वह अन्तर समाज की बाह्य चेतना को ही प्रभावित कर पाया है। चेतना का आन्तरिक पक्ष अपने आप में विशिष्ट होता है। उससे प्रस्फुटित होने वाली सांस्कृतिक चेतना का जीवन-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन विद्या में दो तत्त्व उल्लेखनीय हैं--संवर और निर्जरा। निरोधन और विशोधन इनकी फलश्रुतियां हैं। जिस समाज-चेतना में संभावित असत् को तोड़ने का सामर्थ्य हो वह समाज कभी निराश नहीं हो सकता। समाज चेतना अभ्युदय में जैन मनीषियों, जैन साहित्य और जैन संस्कृति का जो योगदान रहा है, वह अविस्मरणीय है।

पिछले वर्ष उदयपुर में जैन विद्या के सन्दर्भ में एक सेमिनार था। सुधी लेखकों ने अपने लिखित शोध-पत्रों को मौखिक प्रस्तुति दी। उस प्रस्तुतीकरण से वे व्यक्ति ही लाभान्वित हुए जो वहां उपस्थित थे। व्यापक लाभ की संभावना से उन शोध-पत्रों के मुद्रीकरण का निर्णय लेकर सेमिनार के आयोजकों ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

आज के साहित्य-बहुल युग में कोई भी नयी कृति तभी स्थान पा सकती है, जब उसमें कुछ मौलिकता हो। मौलिक चिंतन, मौलिक स्थापना और अभिव्यंजना की शली में मौलिकता न हो तो सामान्य साहित्य भी प्रबुद्ध समाज पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ सकता। ऐसी स्थिति में शोध-साहित्य से तो विशेष रूप से यह अपेक्षा की जाती है, वहां चिंतन और स्थापनाओं की मौलिक स्फुरणा हो। जिस शोध-साहित्य से प्रज्ञा को समाधान न मिले और न ही मिले चिंतन को नया निखार, वह संकलन तो हो सकता है पर उसे शोध कहने से आत्मतोष पुष्ट नहीं होता।

प्रस्तुत पुस्तक 'जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान' जैन तत्त्व विद्या के जिज्ञासुओं को अपनी नई स्थापनाओं से परिचित कराकर लोक-चेतना को उस ओर मोड़ने में सक्षम हो सकी तो यह जैन विद्वानों की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। सांस्कृतिक चेतना का विकास सामाजिक और आर्थिक चेतना के विकास से भी अधिक श्रम-साध्य कार्य है। इस कार्य की निष्पत्ति में रूढ़ धारणाओं और कुसंस्कारों को बदलकर नये मूल्यों, विचारों और धारणाओं को स्थिरीकरण देना जरूरी है। सुधी पाठक जैन विद्या के सांस्कृतिक अवदान से अवगत होकर अपनी प्रज्ञा और चेतना को समाधान देते रहें, यह अपेक्षा है।

लाडनूं
३१ जनवरी, १९७६

-आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, इतिहास एवं संस्कृति के अनेक आयामों को जैन विद्या ने अपनी प्रतिभा से आलोकित किया है। इन्हीं का आलोचन एवं विश्लेषण उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के तत्त्वावधान में देश के प्रख्यात चिन्तकों ने २ अक्टूबर से ६ अक्टूबर १९७३ तक आयोजित विचार-संगोष्ठी के माध्यम से किया था। इस संगोष्ठी में अंग्रेज़ी में पठित शोध-निबन्धों का प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने **'कंट्रीब्यूशन ऑफ जैनिज्म टू इंडियन कल्चर'** के नाम से किया है। विषयों की विविधता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से उपर्युक्त प्रकाशन भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी संगोष्ठी में पठित हिन्दी के शोध-पत्रों का यह संग्रह उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होगा, इस आशा के साथ **'जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान'** प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म एवं दर्शन, साहित्य व संस्कृति के प्रकाशन, प्रचार एवं प्रसार के लिए नाभिस्थान तथा दीपस्तम्भ हैं। उन्हीं की प्रेरणा एवं साधना का परिणाम है—आगमों का संपादन-प्रकाशन, विद्वत्-संगोष्ठियों का वार्षिक आयोजन एवं अनेक विश्वविद्यालयों में जैन-शोध की प्रवर्तना। अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा उन्होंने सारे देश में नैतिकता की नवीन देशना दी है। उन्हीं के आशीर्वाद का फल है प्रस्तुत प्रकाशन। मुनिश्री नथमल जी जैन विद्या के निष्णात महामनीषी हैं। उनका आशीर्वचन इस ग्रंथ का तात्त्विक अलंकार है। इस पुस्तक के सुयोग्य प्रबन्ध-सम्पादन के लिए हम बन्धुवर श्री कमलेश चतुर्वेदी के हृदय से कृतज्ञ हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण-वर्ष में अनेक उत्सवों, समारोहों आदि का देश भर में वर्षव्यापी आयोजन हुआ। इनमें विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से विचार-गोष्ठियों का आयोजन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। जैन मुनियों, जैन समाज तथा विश्वविद्यालय के विद्वानों के संयुक्त प्रयत्नों का ही यह सुपरिणाम है कि देश के विभिन्न नगरों—

उदयपुर, जबलपुर, उज्जैन, सागर, बनारस, पटियाला, पूना, धारवाड़ आदि में प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में जैन धर्म एवं दर्शन, साहित्य तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन-अनुसंधान प्रारम्भ होगा। जैन विद्या की विश्व-विद्यालयों में यह प्रतिष्ठा तथा पीठ-स्थापना अन्ततः भारतीय ज्ञान-विज्ञान की गरिमा को प्रतिष्ठित करेगी तथा विश्वविद्यालय का समाज से, उसके धार्मिक एवं नैतिक स्पंदन से मूल्यवान् एवं सार्थक सम्बन्ध स्थापित करेगी। भारतीय शिक्षा की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उदयपुर विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में देश के मूर्धन्य विद्वानों का अपूर्व समवाय था। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी तथा डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का सहयोग एवं मार्गदर्शन इसे प्राप्त था। इस संगोष्ठी के शोध-पत्रों के अंग्रेजी तथा हिन्दी के प्रकाशन उन्हीं के सहयोग का परिणाम हैं। पर इस फल को देखने के लिए ये तीनों विद्वान अब इस संसार में नहीं हैं। अंग्रेजी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही डॉ० शास्त्री व डॉ० चौधरी का निधन हो गया था। अतः वह कृति उन्हीं को समर्पित है। पर किसे मालूम था कि इन्हीं में वरिष्ठ विद्वान डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को भी कृतान्त हमसे छीन लेगा। प्रस्तुत कृति सादर एवं सविनय श्रद्धा के साथ उन्हीं को समर्पित है।

कार्तिक अमावस्या, १९७५

विषयानुक्रम

१. राजस्थान और जैन साहित्य
मुनि जिनविजय 1

२. जैन विद्या का अनुशीलन
डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ३

३. संगोष्ठी का सिंहावलोकन
डॉ० प्रेम सुमन जैन ६

४. जैन विद्या और भारतीय संस्कृति
डॉ० पी० एस० लांबा १६
अनुवादक : डॉ० विष्णुराम नागर

५. भारतीय परम्परा को जैन विद्या का अवदान
(स्व०) डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये २६
अनुवादक : डॉ० विष्णुप्रसाद भट्ट

६. जैन कला एवं पुरातत्त्व
प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ३४

७. जैनाचार्यों की शब्दविज्ञान को देन
साध्वी संघमित्रा ३७

८. जैनाचार्यों का व्याकरणशास्त्र को योगदान
(स्व०) डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ४२

९. जैन आयुर्वेद साहित्य : एक मूल्यांकन
राजेन्द्रप्रकाश आ० भटनागर ६६

१०. आचार्य हेमचन्द्र और उनका काव्यानुशासन
डॉ० मूलचन्द्र पाठक ७६

११. भट्टारक सकलकीर्ति का संस्कृत चरितकाव्य को योगदान
डॉ० बिहारीलाल जैन — ८६

१२. ग्रन्थों की सुरक्षा में राजस्थान के जैनों का योगदान
डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल — ६७

१३. आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र की अज्ञात रचनाएं
अगरचन्द नाहटा — १०६

१४. जैन दर्शन में अहिंसा'
डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल — ११२

१५. भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दर्शन का योगदान
डॉ० गोकुलचन्द्र जैन — १२१

१६. जैनाचार्यों का गणित को योगदान
प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन — १३८

१७. जैन कला का योगदान
प्रो० परमानन्द चोयल — १५०

१८. जैन धर्म का सांस्कृतिक मूल्यांकन
डॉ० नरेन्द्र भानावत — १५५

१९. सोवियत गणराज्य और पश्चिम एशियाई देशों में जैन तीर्थ
डॉ० ब्रजमोहन जावलिया — १६७

२०. मालवा में जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण
डॉ० मनोहरलाल दलाल — १७५

२१. महाराष्ट्र में जैन धर्म — १८३
डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर

२२. मेवाड़ में जैन धर्म
श्री बलवन्तसिंह मेहता — १८९

राजस्थान और जैन साहित्य

•

मुनि जिनविजय

प्रिय विद्वद्वर आचार्य महोदय
डा० श्री रामचन्द्रजी द्विवेदी
सेव में सादर निवेदन कि

आपका एक कृपा-पत्र कुछ समय पहले मुझे मिला। यह जानकर बहुत हर्ष हुआ कि आपकी अध्यक्षता में उदयपुर युनिवर्सिटी के तत्वावधान में, जैन संस्कृति से संबद्ध एक सेमिनार का आयोजन किया जा रहा है। जिस पुण्यभूमि पर उदयपुर विश्वविद्यालय अवस्थित है वह भूमि युगातीत काल से भारत की समुच्चय संस्कृति का एक महत्त्व का केंद्र रही है। महाकवि चक्रवर्ती सम्राट श्री हर्ष ने आधारभेद पाद का प्रातःस्मरणीय उल्लेख किया है। जैन और बौद्ध दोनों संप्रदाय वाले इस स्तुति का पाठ किया करते हैं—पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस भूमि के विषय में बहुत कुछ संशोधनात्मक कार्य किये हैं।

जैन संप्रदाय की दृष्टि से भी विचारा जाय तो इस भूमि के आधिपत्य वाले प्रदेश में, जैन संस्कृति और जैन साहित्य का प्रभाव विशेष स्थान रखता है। जिस समय गुहिलोत वंश के प्रतिष्ठापक बापा रावल ने इस भूमि को अपना कर्मक्षेत्र बनाया उससे भी बहुत पहले जैन धर्म-गुरुओं ने इस प्रदेश की जनता को दान, दया, सदाचार विषय के सदुपदेशों से यथेष्ट संस्कार-संपन्न करने का सतत प्रयत्न किया है। जैन इतिहास के अनेक प्रकरण इस भूमि की महत्ता प्रकट करते हैं। जैन साहित्यकारों ने इस भूमि के अनेक गांवों और नगरों में निवास कर छोटी-बड़ी हज़ारों साहित्यिक कृतियों का प्रणयन कर समुच्चय भारती भंडार को सुसमृद्ध किया है।

आप विद्वज्जनों ने जैन संस्कृति विषयक विद्वद्विचार गोष्ठी का जो सुन्दर आयोजन किया है, एतदर्थ मेरा अनेकानेक हार्दिक अभिनन्दन है।

मेरा स्वास्थ्य अब अत्यधिक क्षीण हो रहा है इसलिए मैं आप द्वारा आयोजित

इस पुण्यसत्र में उपस्थित होने में असमर्थता अनुभव कर रहा हूं।

मुझसे अब प्रवास नहीं होता। अधिक समय बैठा भी नहीं जाता। बोलने की शक्ति भी वैसी नहीं रही। अतः मैं आपके इस सत्र से वंचित रह रहा हूं, इसका मुझे आन्तरिक खेद ही है। मेरे अन्यतम विद्वान् मित्र डा० श्री ए० एन० उपाध्येजी माईसोर से वहां आ रहे हैं। उनका सौहार्दपूर्ण पत्र मिला है। वे मुझे लिखते हैं कि उदयपुर में मुलाकात की आशा रखते हैं, परंतु मैंने उपर्युक्त शारीरिक अस्वस्थता के कारण, उदयपुर पहुंचने के लिए मेरी असमर्थता व्यक्त की है। कष्ट के लिए क्षमा—आपके आयोजन की हृदय से सफलता चाहता हूं—

विद्वद्वंशवद

मुनि जिनविजय

जैन विद्या : एक अनुशीलन

डा० रामचन्द्र द्विवेदी
(निदेशक, संगोष्ठी)

उदयपुर संगोष्ठी : भगवान् महावीर के प्रति सामायिक

राजस्थान के किसी भी विश्वविद्यालय में प्राकृत अथवा जैन विद्या के अध्ययन और अनुसंधान की व्यवस्था नहीं थी, यद्यपि राजस्थान प्राकृत का अक्षय भंडार और जैन संस्कृति का युगों से मुख्य केंद्र रहा है। उदयपुर विश्वविद्यालय में १९७०-७१ में प्राकृत के अध्ययन की व्यवस्था करने के बाद यह आवश्यक था कि इस विषय के अध्ययन को सही दिशा प्रदान करने के लिए एक अ० भा० संगोष्ठी आयोजित की जाए। यह हमारे विभाग की अर्हता अथवा पात्रता थी जिसके आधार पर अ० भा० संगोष्ठी के आयोजन का विचार अंकुरित हुआ। किंतु इसके दो सामयिक कारण भी थे। एक तो यह कि प्राकृत भाषा पर चार-पांच संगोष्ठियां भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में हो चुकी थीं किंतु जैन विद्या के अवदान पर कोई चर्चा साक्षात् और तुलनात्मक रूप में किसी भी विश्वविद्यालय में अ० भा० स्तर पर नहीं हुई थी। इस विषय को अपनाने में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भी कुछ प्राथमिक संकोच था किंतु मेरा यह सौभाग्य था कि जैन विद्या पर अ० भा० संगोष्ठी आयोजित कर सकने का विचार सफल हुआ। दूसरा सामयिक कारण था, भगवान् महावीर का २५००वें निर्वाण-महोत्सव का १९७४ में होना। कहीं यह महोत्सव केवल सामाजिक उत्सव बनकर न रह जाए इसकी आशंका मेरे मन में थी। इस अवसर को उचित रूप से शैक्षणिक और बौद्धिक बनाने के लिए तथा इस महोत्सव की स्थायिता के लिए यह आवश्यक था कि कुछ वर्ष पूर्व ही इसकी तैयारी के लिए विद्वानों को एकत्र कर उनके विचारों को यथासमय प्रकाशित किया जा सके। यह एक प्रकार से संस्कृत विभाग का सामायिक था।

प्राकृत-अपभ्रंश : भाषा-ज्ञान की पूर्णता

जैसा कि अभी-अभी कहा है प्राकृत भाषाओं पर पांच संगोष्ठियां देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयोजित हुई हैं और उनका स्पष्ट निष्कर्ष है कि किसी भी भारतीय भाषा को, चाहे वह भारोपीय परिवार की हो या द्रविड़ परिवार की या अन्य किसी परिवार की, हम न उसकी उत्पत्ति को और न उसके विकास को पहचान पायेंगे जब तक कि प्राकृत-अपभ्रंश के उत्स तक न पहुंच जाएं। इस दृष्टि से प्राकृत के अध्ययन का एक विशेष महत्त्व है। जहां संस्कृत भाषा का अध्ययन भारोपीय परिवार की भाषाओं के तत्सम और तद्भव रूपों को समझने में हमारी सहायता करता है वहां प्राकृत-अपभ्रंश का अध्ययन भारोपीय परिवार की भाषाओं के देशज शब्दों को समझने में, (जिनकी व्याख्या संस्कृत नहीं कर पाती) और इसके अतिरिक्त अन्य अनेक भाषा परिवारों के शब्दों की उत्पत्ति और विकास को जानने में वह बहुत हद तक एकमात्र माध्यम है। इस प्रकार एक ओर तो भारोपीय भाषाओं के संदर्भ में प्राकृत का संस्कृत के समानान्तर महत्त्व है और दूसरी ओर देशज शब्दों की पहचान में उनके एकाधिकार का भी महत्त्व है।

जैन साहित्य : लोकधर्म का संदेशवाहक

भारतीय साहित्य विभिन्न धाराओं में विभक्त संस्कृतियों का संदेशवाहक रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय साहित्य में लौकिकता (सेक्यूलरिज्म) से संपृक्त वाङ्मय विशाल है। किंतु बहुत कुछ साहित्य धर्म, संस्कृति तथा दर्शन के सूत्रों की व्याख्या के लिए ही प्रणीत हुआ है। इसीलिए बौद्ध साहित्य निर्वाण, क्षपिकता, अनात्मा और शांति के संदेश को मुखरित करता है और ब्राह्मण साहित्य ब्रह्म अथवा ईश्वर तथा आत्मा की अमरता को वाणी प्रदान करता है। श्रमण संस्कृति का साहित्य जीव की नैतिक साधना के लिए पुद्गल के आस्रव का संवर और निर्जरा के माध्यम से उसके मोक्ष की निरंतर साधना करता है। सारे कथ्य, कथाबंध, शिल्प किंवा साहित्य के समग्र उपादान उसी साध्य को अभिव्यक्त करने के साधन हैं। समग्र दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होगा कि जैन, बौद्ध, ब्राह्मण साहित्य ने 'कला कला के लिए' इस पाश्चात्य आदर्श वाक्य को कभी नहीं स्वीकारा। अत: जैन संस्कृति पर आश्रित साहित्य का केंद्र बिंदु सदा निश्चित और सुदृढ़ रहा है। केंद्रीय बिंदु की इस एकाग्रता के साथ ही जैन साहित्यकार ने शिल्प, विधा या कला की दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे उसने न अपनाया हो। इस अर्थ में वह भारतीय साहित्यकार का सच्चा सहकर्मी रहा है। सहधर्मी होकर भी उसने साहित्य के अनेक शिखर स्थापित किये हैं। अत: कालिदास का प्रसाद, पुराणों की मिथक संपदा, महाभारत की सर्वांगीणता एवं विशालता, माघ-भारवि-

श्रीहर्ष जैसे कवियों की शिल्प-प्रियता, दंडी, बाणभट्ट का गद्य सौंदर्य, पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक आदि का कथा-वैभव तथा रूपक के विभिन्न रूप जैन-वाङ्मय में समानांतर रूप में उपलब्ध हैं। शिल्प किंवा कला की समानांतरता का सहभागी होने के साथ लोकभाषा को अपनाने से इस साहित्य में लोकधर्मिता के जो तत्त्व सहज रूप में आये हैं वे श्रेणिक भाषा में, जो कि देवताओं की भाषा थी, मनुष्यों की नहीं, उपलब्ध नहीं थे।

जैन धर्म-दर्शन : मनुष्य-केंद्रित साधना द्वारा पूर्णता (मोक्ष) की प्राप्ति

भारतीय धर्म और दर्शन के तीन निश्चित प्रस्थान हैं। एक तो शाश्वत आत्मवाद, जो आत्मा को शाश्वत, अजर, अमर, निर्विकार स्वीकार करता है। दूसरा है बौद्धों का नैरात्म्यवाद जो कि आत्मा, परमात्मा आदि के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारता। ये दोनों एकान्त दृष्टियां हैं, एक-दूसरे से विपरीत। इन दो एकान्त दृष्टियों का खंडन करते हुए जैन दर्शन की मान्यता है कि न तो आत्मा (जीव) को अस्वीकार किया जा सकता है और न उसे सभी स्थितियों में पूर्ण और निर्विकार माना जा सकता है। क्षणभंगुर मानने में समग्र नैतिक एवं धार्मिक साधना और अपूर्णता से पूर्णता की ओर मनुष्य की दृष्टि तत्त्वतः अर्थहीन हो जायेगी। उसे पूर्ण और निर्विकार स्वीकार करने पर साधना या अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और न पुण्य-पाप की, सुख-दुःख की व्याख्या की जा सकेगी। अतः शाश्वत एवं निर्विकार आत्मवाद तथा नैरात्म्यवाद के विपरीत जैन दर्शन उस जीव को प्रतिष्ठित करता है, जो अपनी मोक्ष-साधना में निरंतर लगकर अपूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्णता की यह साधना किसी ईश्वरीय अनुग्रह का परिणाम न होकर जीव की अपनी तपस्या और साधना की अंतिम परिणति है। इस प्रकार जैन धर्म और दर्शन मनुष्य केंद्रित साधना का धर्म और दर्शन है। यही कारण है कि इसमें आचार की जो प्रतिष्ठा और सूक्ष्म व्याख्या है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती।

स्पष्टतः कहा गया है कि सम्यक् दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चरित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है। हिंदू तथा बौद्ध के अनुसार दर्शन, ज्ञान या भक्ति के माध्यम से मोक्ष या निर्वाण का पा सकना संभव है। किंतु जैन दृष्टि के अनुसार चरित्र (आचार) की सिद्धि के बिना मोक्ष पाना संभव नहीं है। मनुष्य को मोक्ष-साधना का केंद्र मानने से यह अत्यन्त स्वाभाविक हो गया कि आध्यात्मिक, मानसिक, भौतिक अथवा अन्य किसी स्तर पर हिंसा को स्वीकार ही न किया जा सके। हिंदू धर्म में वैदिक हिंसा को स्वीकार कर लिया गया था और बौद्ध दर्शन में स्वयं तथागत ने कुछ अपवाद प्रतिष्ठित कर दिये थे। किंतु जैन धर्म की दृष्टि यह कभी नहीं स्वीकार कर सकती कि एक प्राणी दूसरे प्राणी का मनसा-वाचा-

कर्मणा या अन्य किसी प्रकार से हिंसक होकर भी पूर्णता (मोक्ष) की साधना कर सकता है।

वर्तमान संदर्भ : अहिंसा की साधना

आज के समाज की व्यथा की यदि किसी एक शब्द से व्याख्या हो सकती है तो वह है हिंसा। आणविक अस्त्रों का संत्रास, परिवेश (इनवार्नमेंट) के मिट जाने का भय, शक्तिशाली राष्ट्र एवं समाज द्वारा शोषण की पीड़ा, दरिद्रता, मानसिक-शारीरिक निर्बलता—ये सब हिंसा को व्यक्त करती हैं। और सृष्टि के इतिहास में पहली बार यह भय खड़ा हो गया है कि कहीं मनुष्य का अस्तित्व ही निकट भविष्य में न समाप्त हो जाए। इस विभीषिका का एक ही समाधान है और वह है—अहिंसा का सिद्धान्त। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शायद छोटे-छोटे गणों में विभक्त महावीर-काल के परस्पर संघर्षशील समाज के समक्ष इस अहिंसा की उतनी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि महावीर के संदेश को सर्वात्मना स्वीकार न करके भी विश्व का समाज अपनी आयु के २५०० वर्ष तो बिता ही चुका है लेकिन आगे भी इतने वर्ष बिता पायेगा इसमें वैज्ञानिकों को पूरा संदेह है। आचार-धर्म का मूल अहिंसा है। समग्र आचार-धर्म उसी सिद्धान्त के पल्लवन हैं। किसी विशिष्ट आचार व रीति का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि मूल का। एकाध पत्ता भले टूट जाए, देश और काल के निमित्त से प्रवर्तित कोई आचार हमसे भले छूट जाए, लेकिन मूल नहीं सूखना चाहिए। अहिंसा मूल है, आचार विशेष पल्लव।

जैन कला : सौंदर्य एवं अध्यात्म की स्वतंत्र अभिव्यक्ति

जैसा कि भारतीय साहित्य के संदर्भ में कहा गया, बहुत कुछ वही कलाकृतियों के संदर्भ में चरितार्थ है। दोनों ही कवि-मन के बाह्य रूप हैं। उपकरण भिन्न हैं। सृजन-धर्म का मूल एक है। कला की विविधा जो बौद्ध और हिंदू कलाकृतियों में प्राप्त होती है उस सब को अपनाकर भी अपनी चिंतन-दृष्टि के भेद के कारण जैन कलाकृतियां समान होकर भी विशिष्ट हैं। समानता में यह भिन्नता उसकी स्वतंत्रता का प्रमाण है। यह स्वतंत्रता ही साहित्य अथवा कलाकृति का वास्तविक उत्कर्ष बिंदु होता है। जैन कला ने सौंदर्य और अध्यात्म दोनों की अभिव्यक्ति में अपनी मौलिकता को बनाये रखा है।

जैन विद्या का प्रचार-प्रसार : दृष्टि का खुलापन

जैन विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए सबसे पहले तो जैन समाज को अपनी दृष्टि बदलनी होगी, उसके बाद शेष समाज को। विद्या की साधना को केवल कुछ

क्षण के लिए धार्मिक अनुष्ठान का अंग न मानकर इसे खुली हवा में ले जाने के लिए जैन समाज को मन से और कर्म से तैयार होना होगा। इसका अर्थ है कि पांडुलिपियों के रूप में जो अपार सम्पदा मंदिरों में मात्र पूजा के लिए सुरक्षित है और जिसकी वर्ष में एकाध यात्रा बाहरी दुनिया के सामने हो जाती है उसे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अध्ययन और मनन के लिए सुलभ बनाया जाए। पांडु-लिपियों के मंदिर के पट खोलने के लिए युग-युग के पुजारी को तैयार हो जाना चाहिए। पर जैन समाज की यह तैयारी काफी नहीं है। ग्रंथ के विनाश के जिस भय और आतंक के कारण उसे इस ग्रंथ-संपदा को सुरक्षित रखने को बाध्य होना पड़ा उसका कारण न केवल उनको विनष्ट करना था बल्कि जैनेतर समाज की वह मनोवृत्ति भी थी जिसने कहा था—न गच्छेत् जैनमंदिरं। अतः दोनों को ही नयी समझ के लिए अपने को तैयार करना होगा। विश्वविद्यालय और विद्या के दूसरे प्रतिष्ठानों को भी यह सोचना होगा कि साम्प्रदायिक होना एक बात है और सम्प्रदायविशेष का संपूर्ण अध्यवसाय और निष्ठा के साथ अध्ययन करना दूसरी बात है। यह दुर्भाग्य है कि यूरोपीय, अमेरिकी या रूसी भाषा, साहित्य और समाज को जानने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में व्यवस्था आसान है, लेकिन भारतीय भाषा, साहित्य व संस्कृति को विश्वविद्यालय स्तर तक प्रवेश दिलाना दुष्कर कार्य है। और इस कार्य में सांप्रदायिकता को प्रश्रय देने का आक्षेप पहले किया जाता है। अतः समाज और शैक्षणिक जगत् में समन्वय अनिवार्य है। मनोवृत्तियों के इस भरत-मिलाप के बाद जिन कार्यों से जैन विद्या का प्रचार और प्रसार सचमुच सफल हो सकेगा, उनमें से कतिपय निम्नांकित हैं :

१. श्रेणिक भाषा (क्लासिकल लैंग्वेज) और साहित्य के साथ प्राकृत भाषा और साहित्य का अध्ययन पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग बने।

२. आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राचीन रूप के पाठ्यक्रम के साथ अपभ्रंश आदि सम्बद्ध भाषा का अध्ययन अनिवार्यतः निर्धारित किया जाना चाहिए।

३. छात्रवृत्तियों का अधिकाधिक समायोजन किया जाना चाहिए जिन्हें निश्चित रूप से जैन और जैनेतर में भेद न करके पढ़ने वाले छात्रों को योग्यता-नुसार दिया जाना चाहिए।

४. प्राकृत के अध्ययन एवं अनुसंधान को मानक स्तर प्रदान करने के लिए प्रत्येक प्रदेश के कम-से-कम एक विश्वविद्यालय में जैन विद्या के अध्ययन के लिए आसन स्थापित किया जाना चाहिए जो पूर्वतः स्थापित संस्कृत अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ संबद्ध होकर कार्य करे।

५. प्रारंभ में स्तर की एकरूपता स्थापित करने के लिए अ० भा० स्तर पर संगोष्ठी के माध्यम से विभिन्न श्रेणियों के लिए समान पाठ्यक्रम का विधान करना

चाहिए। इसी विधान के अनुरूप पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों का अनुवाद एवं टिप्पणियों के साथ समालोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किये जाएं जो मूल्य की दृष्टि से भी छात्रोपयोगी हों। प्राकृत पढ़ने वालों की संख्या प्रारंभ में कम होगी इसलिए यह कार्य और भी आवश्यक है।

६. अनुसंधान को आगे बढ़ाने के लिए सभी पांडुलिपियों की विस्तृत एवं पूर्ण संशोधित ग्रंथ-सूची प्रकाशित हो। उनमें से आवश्यक ग्रंथों का चयन एवं संपादन कर उन्हें प्रकाशित करना चाहिए। ग्रंथों के आलोचनात्मक संपादन में तुलनात्मक दृष्टि नितान्त अपेक्षित है ताकि एक ओर उसे संस्कृत की धारा से और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय भाषाओं की धारा से उन्हें जोड़ा जा सके।

७. चूंकि जैन विद्या के महत्त्व की जानकारी अभी भारतीय समाज को नहीं है इसलिए यह आवश्यक है कि इसके विभिन्न पक्षों पर देश के कोने-कोने में निरंतर संगोष्ठियां की जाएं जिसमें वहां के समाज को भी अपने साथ में सम्मिलित किया जाए ताकि जैन विद्या के गौरव के संबंध में भारतीय जनचेतना जागृत हो सके। यह जागृति ही जैन विद्या के प्रसार-प्रचार का सर्वोत्तम उपाय है, जो अन्य उपाय स्वतः खोज लेगा।

संगोष्ठी का सिंहावलोकन

डा० प्रेम सुमन जैन
(संयोजक, संगोष्ठी)

समायोजन का आधार

उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने १९७१ में परा-स्नातक कक्षाओं में प्राकृत वर्ग तथा प्राकृत की प्रमाणपत्रीय परीक्षा प्रारम्भ कर विश्वविद्यालय स्तर पर प्राकृत के अध्ययन एवं अनुसंधान का राजस्थान में विधिवत् श्रीगणेश किया। इसके पूर्व ही भट्टारक सकलकीर्ति और उनके साहित्य पर एक शोध-छात्र अपना अनुसंधान-कार्य प्रारम्भ कर चुके थे और १९७१ में ही इन पंक्तियों के लेखक ने 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय में अनुसन्धान उपाधि के लिए पंजीयन करा लिया था। इस प्रकार प्राकृत के प्रारम्भिक अध्येता तथा अनुसन्धान के छात्रों तक की प्राकृत में शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस विश्वविद्यालय ने सन् १९७१ तक कर दी थी, जो अब तक सुचारू रूप से चल रही है। इस प्रदेश के दूसरे विश्वविद्यालयों में भी इस प्रकार का कार्य प्रारंभ हो, इसकी इस निर्वाण-वर्ष में हम सभी कामना करते हैं।

राजस्थान में प्राकृत-अध्ययन की सुदृढ़ आधार शिला रखने के लिए तथा जैन विद्या का अन्य भारतीय विद्याओं की तुलना में मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक था कि देश के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वानों की एक संगोष्ठी की जाए जो भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस की बेला में अपने चिन्तन का अर्घ्य समर्पित कर सके। साथ ही इस संस्कृत विभाग को अध्ययन-अनुसन्धान की सुविचारित दिशा-बोध भी दे सके। इन्हीं प्रमुख लक्ष्यों और प्रयत्नों का परिणाम था अक्तूबर, १९७३ की यह संगोष्ठी। इसके पूर्व भी दिसम्बर १९६८ में 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिजम इन संस्कृत' विषय को लेकर एक सफल संगोष्ठी प्रवर्तित करने का श्रेय विभाग को प्राप्त था, जो जैन विद्या विषयक संगोष्ठी के सफल समायोजनक का आधार बना।

इस विचार-गोष्ठी के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से आर्थिक अनुदान प्राप्त करने हेतु लम्बे प्रयत्न के लिए संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा संगोष्ठी के निदेशक डा० रामचन्द्र द्विवेदी, तत्कालीन उपकुलपति डा० गणेश सखाराम महाजनी, वर्तमान पूना विश्वविद्यालय के कुलपति तथा उदयपुर विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति डा० पृथ्वीसिंह लाम्बा को स्मरण करना आवश्यक है। डा० दौलतसिंह कोठारी, तत्कालीन अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली की ही यह समझ तथा सदाशयता थी कि उन्होंने आयोग की ओर से इस संगोष्ठी के आयोजन के लिए अनुदान की स्वीकृति प्रदान की।

अभी तक देश में जो सेमिनार कोल्हापुर, पूना, बंबई, बोधगया तथा अहमदाबाद में हुए थे वे मूलत: प्राकृत भाषा को लेकर थे। इसके अतिरिक्त अहिंसा सिद्धान्त को लेकर भी छिटपुट विचार-गोष्ठियां विश्वविद्यालयों में हुई थीं, जिनमें जैन-धर्म व दर्शन के अवदान की चर्चा भी प्रासंगिक रूप से हुई थी। किन्तु जैन विद्या को साक्षात् विषय के रूप में लेकर तथा उसके सभी आचार्यों को तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास अभी तक नहीं हुआ था। इसके पीछे विभिन्न बाधाएं व कारण रहे हैं, जिन्हें इस संगोष्ठी के आयोजन ने पहली बार चुनौती दी है। क्योंकि आयोजकों का यह सोचना रहा है कि किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय का यह प्रथम दायित्व है कि समाज जिन चीज़ों पर सोचता-विचारता है, जिसके लिए उसका हृदय निरंतर स्पंदित होता रहता है; उन विषयों के अध्ययन एवं अनुसन्धान की व्यवस्था वह करे। अन्यथा समाज और विश्वविद्यालय शिक्षा का कोई ताल-मेल नहीं बैठेगा, जो भारतीय पृष्ठभूमि में हितकर नहीं कहा जा सकता। संगोष्ठी किये जाने का संकल्प इन ऊहापोहों से गुजरकर स्वीकृत हुआ, यह हर्ष का विषय है।

इस संगोष्ठी का विषय—'जैन विद्या का भारतीय संस्कृति को अवदान' सर्वथा नया था। अत: इसमें प्राच्य विद्या के प्राय: सभी विषयों—दर्शन, धर्म, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व आदि से सम्बन्धित उन विद्वानों को आमन्त्रित किया गया, जो जैन विद्या के अध्ययन में भी अपनी रुचि रखते थे। जैन धर्म व दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् इसमें सम्मिलित थे ही। जम्मू, दिल्ली, वाराणसी, बोधगया से लेकर बम्बई, पूना, बंगलौर, कर्नाटक एवं मैसूर तक के विद्वान् आमन्त्रित थे। गुजरात, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान के विद्वानों का पूर्ण सहयोग इसे प्राप्त था। अतिथि विद्वानों की उपस्थिति जापानी विद्वान् सुचिहासी के पदार्पण से ही प्रारम्भ हुई। इस प्रकार सभी वर्ग एवं विषयों के विद्वान् इस संगोष्ठी में सम्मिलित हुए।

उद्घाटन-समारोह

संगोष्ठी का आयोजन २ से ६ अक्टूबर, १६७३ तक उदयपुर विश्वविद्यालय के आधारभूत विज्ञान एवं मानविकी संस्थान के सभाकक्ष में सम्पन्न हुआ। उद्घाटन-समारोह में संगोष्ठी के निदेशक डा० रामचंद्र द्विवेदी ने समागत विद्वानों का स्वागत करते हुए अपने ढंग की इसे प्रथम संगोष्ठी बतलाया तथा कहा कि इसके आयोजन द्वारा जैन विद्या का भारत के सांस्कृतिक विकास में जो योगदान है वह अधिक स्पष्ट हो सकेगा। उद्घाटनकर्ता उपकुलपति डा० पृथ्वीसिंह लाम्बा ने अपने अभिभाषण में न केवल भारतीय भाषा, साहित्य, कला और आध्यात्मिक चेतना के उत्थान में जैन विद्या के गहरे संबंध को उजागर किया, अपितु यह आशा भी व्यक्त की कि यह संगोष्ठी जैन साहित्य और धर्म-दर्शन के मूल्यांकन तथा अध्ययन-अनुसंधान में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दे सकेगी। समारोह के अध्यक्ष डा० मोहनलाल मेहता ने अपने भाषण में इस भ्रम का निवारण किया कि जैन साहित्य किसी संप्रदाय या धर्म विशेष का साहित्य है। संगोष्ठी के संयोजक डा० प्रेम सुमन जैन ने अतिथियों का धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के संदर्भ में संगोष्ठी की महत्ता को स्पष्ट किया।

जैन विद्या की इस संगोष्ठी के छह अधिवेशनों में विभिन्न विषयों से संबंधित साठ शोध-निबंध प्रस्तुत किये गये, जिनका प्रकाशन अंग्रेजी एवं हिंदी में अलग-अलग हो रहा है। संगोष्ठी में पठित निबंधों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है।

भाषा एवं साहित्य

संगोष्ठी के उद्घाटन समारोह के बाद पत्र-वाचन का शुभारंभ भाषा एवं साहित्य से संबंधित निबंधों द्वारा हुआ। २ अक्टूबर, १६७३ के इस मध्याह्न कालीन अधिवेशन के अध्यक्ष थे डा० टी० जी० कलघाटगी, प्राचार्य, कर्नाटक आर्ट्स कालेज, धारवाड़ एवं सचिव थे डा० कैलाशचंद्र जैन, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन। सर्वप्रथम डा० कलघाटगी ने 'जैनिज्म इन कर्नाटक' नामक निबंध का वाचन करते हुए दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रभाव का विवेचन किया तथा इस परंपरा का भी उल्लेख किया कि भगवान महावीर ने भी संभवतः दक्षिण भारत का भ्रमण किया था। डा० के० सी० जैन एवं डा० एन० एच० समतानी ने इस परंपरा को ऐतिहासिक साक्ष्यों से रहित बतलाया।

द्वितीय निबंध—'भट्टारक सकलकीर्ति का संस्कृत चरितकाव्य को योगदान' श्री विहारीलाल जैन (उदयपुर) द्वारा पढ़ा गया। डा० कासलीवाल, डा० दलाल एवं डा० के० सी० जैन के विचार-विमर्श द्वारा भट्टारक और साधु तथा चरित और पुराण-काव्य का भेद स्पष्ट हुआ। डा० कस्तूरचंद कासलीवाल (जयपुर) ने 'ग्रंथों

की सुरक्षा में राजस्थान के जैनों का योगदान' नामक तृतीय निबंध का वाचन किया। इस निबंध पर हुए प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट हो सका कि राजस्थान की जलवायु एवं राजकीय संरक्षण के कारण इस प्रदेश में सर्वाधिक ग्रंथ-भंडार स्थापित हो सके हैं तथा जैन साधुओं के उदार दृष्टिकोण एवं शिक्षण पद्धति के कारण विभिन्न भाषाओं और विषयों के ग्रंथ सुरक्षित रखे गये हैं। श्री पी० एस० जैन, डा० समतानी, डा० जी० एन० शर्मा एवं श्री वी० एस० मेहता ने इस प्रपत्र के विचार-विनिमय में भाग लिया।

डा० वी० आर० नागर, उदयपुर ने 'जैन कण्ट्रीब्यूसन टू संस्कृत पोयट्री' नामक निबंध में न केवल जैन संस्कृत काव्यों का साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया, अपितु लौकिक संस्कृत के काव्यों के साथ उनकी तुलना भी प्रस्तुत की। डा० आर० सी० द्विवेदी ने इस निबंध का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा कि जैन कवियों द्वारा विशुद्ध साहित्यिक रचनाएं भी प्रस्तुत की गयी हैं, जिनको नकारा नहीं जा सकता। डा० समतानी ने बौद्ध-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में जैन संस्कृत काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इस अधिवेशन का अंतिम निबंध डा० के० के० शर्मा (उदयपुर) द्वारा पढ़ा गया। 'कण्ट्रीब्यूसन आफ प्राकृत एण्ड अप्रभ्रंश इन द डवलपमेंट आफ माडर्न इंडो-आर्यन लैंग्वेजेज' नामक इस निवन्ध में डा० शर्मा ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के उन अनेक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की जो प्राकृत एवं अपभ्रंश से सीधे ग्रहण किये गये हैं। डा० कलघाटगी ने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि आज सबसे बड़ी आवश्यकता विभिन्न भाषाओं के जानकार और दार्शनिकों में तालमेल बैठाने की है, तभी साहित्य और दर्शन का महत्त्व आंका जा सकेगा। प्राकृत भाषा जैनों की न होकर जनसामान्य की है। इसी प्रकार जैन साहित्य भी केवल जैन दर्शन का प्रतिपादन नहीं करता, अपितु वह भारतीय संस्कृति का संवाहक भी है।

भाषा और साहित्य से संबंधित कुछ निबंध संगोष्ठी के अन्य अधिवेशनों में भी पढ़े गये। डा० उषा सत्यव्रत, दिल्ली ने 'मोहपराजय : ए जैन एलीगोरिकल प्ले' नामक निबंध में नाटक की विशेष विधा पर प्रकाश डाला। निबंध पर हुए विचार-विनिमय से ज्ञात हुआ कि प्रतीकात्मक शैली में लिखित रचनाएं उस समय अधिक प्रभावक होती थीं। जैन लेखकों ने इस विधा का सूत्रपात कर साहित्य को नई दिशा प्रदान की है। डा० सोगानी, डा० द्विवेदी, डा० नागर एवं डा० सत्यव्रत शास्त्री ने इस निबंध के विचार-विनिमय में भाग लिया। श्री अगरचंद नाहटा (बीकानेर) ने 'आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र की अज्ञात रचनाएं' नामक अपने निबंध में इन लेखकों की रचनाओं का परिचय दिया।

भद्रबाहु के समय आदि के सम्बन्ध में डा० के० सी० जैन एवं डा० बी० एम० जावलिया ने विचार-विमर्श किया, जिसमें उन्हें वराहमिहिर के समकालीन

स्वीकार किया गया। डा० एच० सी० भयाणी (अहमदाबाद) ने 'द इवोल्यूसन आफ सनत्कुमारचरिअ' नामक निबंध में प्राकृत की इस रचना का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। सनत्कुमार को बारह चक्रवर्तियों में से एक माना गया है। डा० देवेंद्र-कुमार शास्त्री ने 'कंट्रीब्यूसन आफ अपभ्रंश टू इंडियन लैंग्वेजेज' नामक निबंध में भारतीय भाषाओं में अपभ्रंश के दाय को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया। डा० समतानी के इस प्रश्न पर कि सिंधी भाषा का व्राचड़ अपभ्रंश से क्या संबंध है, डा० भयाणी ने स्पष्ट किया कि व्राचड़ अपभ्रंश का उल्लेख व्याकरण एवं अलंकार ग्रंथों में नहीं मिलता। भोज ने ही विभिन्न अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं, यद्यपि सिंधी आदि आधुनिक भाषाओं का अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से घनिष्ठ संबंध है।

धर्म एवं दर्शन

जैन धर्म एवं दर्शन से संबंधित शोध-निबंध संगोष्ठी के दो अधिवेशनों में पढ़े गये। अहिंसा का सिद्धांत जैन धर्म की धुरी है। अन्य धर्मों में भी अहिंसा के विभिन्न रूप स्वीकृत हैं। अत: संगोष्ठी में अहिंसा पर व्यापक चर्चा हुई। डा० हुकमचंद भारिल्ल ने 'जैन दर्शन में अहिंसा' विषय पर प्रकाश डालते हुए अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट किया। वीतराग आत्मा के स्तर से अहिंसा को समझना कुछ विद्वानों को व्यावहारिक नहीं लगा। डा० कमलचंद सोगानी ने कहा कि अहिंसक होने के लिए वीतरागी होना अनिवार्य शर्त नहीं है। और डा० कलघाटगी ने जीवों के प्रति आदरभाव को ही अहिंसा माना तथा उसके विधेयात्मक पक्ष पर बल दिया। डा० धडफले एवं डा० नारायण समतानी ने प्रश्नोत्तरों द्वारा बौद्धधर्म के संदर्भ में अहिंसा की व्याख्या की तथा जैन धर्म की अहिंसा को अधिक सूक्ष्म बतलाया। प्रो० चांदमल कर्णावट ने अहिंसा के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट किया तथा डा० मनोहरलाल दलाल ने युद्ध-सहिता के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा-पालन की संभावनाओं पर विचार किया। जैन धर्म में अहिंसा विषयक मान्यताओं का अधिक स्पष्टीकरण पं० दलसुख भाई मालवणिया के 'भगवान महावीर की अहिंसा' नामक निबंध-वाचन से हुआ। आपने अहिंसा के विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला।

संगोष्ठी में अहिंसा को प्रतिपादित करनेवाले अन्य निबंध भी पढ़े गये। डा० एम० जी० धड़फले का 'सम आफ-सूट्स आफ द डाक्ट्राइन आफ नान-वॉयलेन्स एज इम्प्लाइड इन द जैन फिलासॉफी', डा० दयानंद भार्गव का 'सम चीफ करेक्ट-रिक्टिस आफ द जैन कंसेप्ट आफ नान-वॉयलेन्स', डा० नारायण समतानी का 'नान-वॉयलेन्स वाइस-ए-वाइस मैत्री : बुद्धिस्ट एंड जैन एप्रोच' तथा डा० आई० सी० शर्मा का 'इंफलूएन्स आफ जैनिज्म आन महात्मा गांधीज् कंसेप्ट आफ नान-व्यायलेन्स' आदि निबंध संगोष्ठी में अधिक चर्चित हुए।

जैन दर्शन के क्षेत्र में संगोष्ठी में चर्चा का प्रमुख विषय जैन प्रमाण-मीमांसा था। विषय-प्रतिपादन किया डा० रामचंद्र द्विवेदी ने अपने 'डिफाइनिंग द प्रमाण' नामक निबंध से। आपने इस पत्र में प्रमाण की परिभाषा पर विचार करते हुए जैनाचार्यों के विभिन्न मतों की समीक्षा की। समंतभद्र सिद्धसेन एवं अकलंक की प्रमाण संबंधी परिभाषाओं के संबंध में डा० मोहनलाल मेहता ने भी जानकारी दी तथा डा० नारायण समतानी ने बौद्ध आचार्यों के प्रमाण-संबंधी विचार प्रस्तुत किये। जैन प्रमाण-शास्त्र के इस विषय को डा० गोकुलचंद्र जैन ने और आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने निबंध 'भारतीय प्रमाण-शास्त्र को जैन दर्शन का योगदान : प्रत्यक्ष प्रमाण के विशेष संदर्भ में' द्वारा जैन दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत किया। डा० कलघाटगी ने प्रत्यक्ष प्रमाण को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। डा० मेहता ने परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण का अन्तर स्पष्ट किया तथा डा० द्विवेदी ने अन्य दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद-प्रभेदों की चर्चा की।

जैन प्रमाण मीमांसा के विवेचन को गति दी साध्वीश्री संघमित्राजी ने। आपने अपने निबन्ध 'जैनाचार्यों की शब्द-विज्ञान को देन' द्वारा शब्द प्रमाण के स्वरूप एवं आवश्यकता को स्पष्ट किया। डा० मोहनलाल मेहता का निबध 'कंट्रीब्यूसन आफ जैनिज्म टू इंडियन फिलॉसफी' एवं डा० भागचंद जैन का निबन्ध 'कन्ट्रीब्यूसन आफ जैनिज्म टू द डवलपमेंट आफ बुद्धिज्म' जंन धर्म एवं दर्शन के व्यापक क्षेत्र को छूते थे। अत: द्रव्यविवेचन, गुणस्थान, ज्ञानमीमांसा आदि अनेक बिंदुओं पर विद्वानों ने विचार-विमर्श किया। डा० विमलप्रकाश जैन के निबन्ध 'कन्ट्रीब्यूसन आफ जैन-योग इन द प्रेक्टिस आफ स्प्रिचुअल एडवांसमेण्ट' तथा डा० जे० सी० सिकदार के 'जैन कन्सेप्ट्स आफ स्पेस' ने दर्शन की चर्चा को नया मोड़ दिया। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इन पत्रों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। डा० कमलचंद सोगानी का निबंध 'जैन एथीकल थ्योरी' काफी चर्चित हुआ। आपने जैन आचारशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ उसके व्यावहारिक पक्ष को भी स्पष्ट किया। व्यक्ति और समाज के उत्थान में जैन आचार संहिता की उपयोगिता पर डा० सोगानी ने नया चिंतन प्रस्तुत किया। डा० विष्णुप्रसाद भट्ट ने जैन आचारशास्त्र के कुछ बिंदुओं का उपनिषदों की विचार-धारा से तुलनात्मक अध्ययन अपने 'सम जैन एथीकल कन्सेप्ट्स एण्ड द बृहदारण्यक उपनिषद्' नामक निबंध द्वारा प्रस्तुत किया।

संगोष्ठी के इस विभाग में कुछ ऐसे भी निबंध प्राप्त हुए जिनके लेखक स्वयं उपस्थित नहीं हो सके। डा० पुरुषोत्तमलाल भार्गव का 'जैन कन्सेप्ट्स आफ अहिंसा', डा० टी० जी मैनकर का 'द स्याद्वाद आफ द जैन फिलासफी : ए कन्ट्रीब्यूसन टू इंडियन इपिस्टामोलाजी', श्री जोधसिंह मेहता का 'द कन्ट्रीब्यूसन आफ

जैन मान्कस् इन प्रोपोगेशन आफ अहिंसा' तथा डा० पी० एम० उपाध्ये का 'कन्सेप्ट आफ जैन मिस्टिसिज्म' इसी प्रकार के निबंध थे। इस प्रकार संगोष्ठी में जैन धर्म एवं दर्शन के सर्वाधिक निबन्ध पढ़े गये, जिनसे भारतीय दर्शन के कई पक्ष उजागर हुए हैं। इस विभाग के अधिवेशनों के अध्यक्ष थे डा० सत्यव्रत शास्त्री (दिल्ली) एवं डा० गुलाबचंद्र चौधरी (वैशाली) तथा सचिव थे डा० एम० जी० धड़फले (पूना) एवं डा० नारायण समतानी (बनारस)।

ललित कला एवं विज्ञान

संगोष्ठी के इस विभाग में कुल ग्यारह निबन्ध पढ़े गये। जैन धर्म का ललित-कलाओं और स्थापत्य आदि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान का विवेचन करते हुए प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी ने मध्यप्रदेश की जैन कला का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया। यहां की जैनकला एवं अवशेषों पर जो अध्ययन वहां हो रहा है तथा अपेक्षित है, इस सबकी जानकारी आपने दी। श्री रत्नचंद्र अग्रवाल का निबंध राजस्थान की जैन कलाकृतियों पर प्रकाश डालने वाला था। प्रोफेसर परमानंद चोयल ने 'जैन कला का योगदान' विषय पर अपना निबंध प्रस्तुत किया। प्रोफेसर ओ० डी० उपाध्याय ने जैन चित्रकला की सूक्ष्म विशेषताओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। जैन मूर्तिकला पर डा० एस० एम० पहाड़िया का 'जैन मैंटल इमेज' नामक एक ही निबंध संगोष्ठी में प्रस्तुत हुआ। 'जैनाचार्यों की संगीत को देन' विषय पर एक प्रतिनिधि लेख डा० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा प्रस्तुत हुआ। प्रोफेसर शास्त्री ने जैन साहित्य के उन संदर्भों की चर्चा की, जो संगीत के क्षेत्र में नया प्रकाश डालते हैं।

'जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान' विषयक चर्चा संगोष्ठी में अधिक आकर्षक रही। डा० महावीरराज गेलड़ा ने 'द कन्सेप्ट आफ इनर्जी इन जैन लिटरेचर', डा० नंदलाल जैन ने 'कन्ट्रीब्यूसन आफ जैन्स टू केमिकल नालेज' तथा डा० एम० एस० मुंडिया ने 'जैन फिलासफी एण्ड माडर्न साइंस' नामक निबंध पढ़े, जिन पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ। प्रोफेसर लक्ष्मीचंद्र जैन ने 'इंडियन जैन स्कूल आफ मेथमेटिक्स : ए स्टडी इन चाइनीज़ इंफ्लूएंस एण्ड ट्रांसमिशन्स' नामक अपना महत्त्वपूर्ण निबंध भेजा। वे स्वयं उपस्थित होते तो इस निबंध पर अच्छी चर्चा होती। स्व० डा० नेमिचंद्र शास्त्री का 'जैनाचार्यों की व्याकरणशास्त्र को देन' नामक निबन्ध प्राप्त करने का सौभाग्य भी संगोष्ठी को हुआ, किंतु वे स्वयं इसमें सम्मिलित न हो सके। इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे डा० एच० सी० भयाणी (अहमदाबाद) तथा सचिव थे डा० विमलप्रकाश जैन (जबलपुर)।

इतिहास एवं संस्कृति

जैन साहित्य का भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगोष्ठी में इस विषय पर भी पर्याप्त चर्चा हुई। विभिन्न विषयों पर निबन्ध पढ़े गये। डा० नरेन्द्र भनावत ने अपने निबन्ध 'जैन धर्म का सांस्कृतिक मूल्यांकन' के वाचन द्वारा विषय-प्रवर्तन किया। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने 'भारतीय कालगणना और जैन-जैनेतर दर्शनों में काल-सिद्धान्त' नामक निबन्ध पढ़ा। दो निबन्ध जैन धर्म और शिक्षा-दर्शन पर पढ़े गये। डा० हरीन्द्र-भूषण जैन ने 'जैन एजुकेशन इन एशियण्ट इंडिया' नामक निबन्ध द्वारा जैन साहित्य के उन संदर्भों की व्याख्या की जो शिक्षा दर्शन से सम्बन्धित थे। प्रो० चांदमल कर्णावट के जैनागमों में शिक्षातत्त्व खोजकर प्रस्तुत किये। जैन धर्म और भारतीय समाज पर निबन्ध पढ़ा डा० सुदर्शनलाल जैन ने। प्राचीन भारतीय समाज के आर्थिक और व्यापारिक पक्ष पर प्रकाश डाला डा० प्रेम सुमन जैन ने। आपका निबंध था—'एन एकाउन्ट आफ द ट्रेड एण्ड शिपिंग इन प्राकृत लिटरेचर'। इस विषय पर प्रोफेसर वाजपेयी, डा० उपाध्ये एवं डा० भयाणी ने अन्य जानकारी भी प्रस्तुत की। श्री बलवंतसिंह मेहता ने 'अहिंसा सम्मत प्राचीन शिलालेख व राजाज्ञाएं' नामक निबन्ध प्रस्तुत कर यह स्पष्ट किया कि राज्यकार्य में भी जैन धर्म का प्रभाव रहा है। इस सत्र के अध्यक्ष थे पं० दलसुख भाई मालवणिया एवं सचिव थे डा० कैलाशचन्द्र जैन (उज्जैन)।

इस विषय के दूसरे सत्र के अध्यक्ष थे डा० गोपीनाथ शर्मा (जयपुर) तथा सचिव थे—डा० विद्याधर जोहरापुरकर (जबलपुर)। इसमें विद्वानों ने विभिन्न प्रान्तों में जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका की चर्चा की। डा० मनोहरलाल दलाल ने 'मालवा में जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण' नामक निबन्ध प्रस्तुत किया। डा० वी० डी० जोहरापुरकर ने 'महाराष्ट्र में जैन धर्म' का विवेचन किया। डा० के० सी० जैन ने 'जैन कास्ट्स एण्ड देयर गोत्राज इन राजस्थान', डा० जी० एन० शर्मा ने 'जैन राइटर्स एण्ड सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ मिडिवल राजस्थान' तथा श्री आर० वी० सोमानी ने 'जैन कीर्तिस्तम्भ आफ चित्तौड़' नामक निबन्ध प्रस्तुत कर राजस्थान में जैन धर्म का विशेष परिचय प्रस्तुत किया। डा० उपेन्द्र ठाकुर का निबन्ध 'जैनिज्म इन मिथिला एण्ड इट्स इम्पेक्ट आन मिथिला कल्चर' तथा डा० कलघाटगी का निबन्ध 'जैनिज्म इन कर्नाटक' विविध जानकारियों से भरपूर थे। डा० ब्रजमोहन जावलिया ने 'साइबेरिया एवं मध्य एशिया में जैन-तीर्थ' निबन्ध द्वारा वहां जैन धर्म के अस्तित्व को सिद्ध किया। डा० ए० एन० उपाध्ये ने 'जैन कण्ट्रीब्यूसन्स टू साउथ इंडियन लिटरेचर' निबन्ध द्वारा दक्षिण भारत के जैन साहित्य का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया।

समुच्चायक-व्याख्यान

इस संगोष्ठी की निबन्ध-वाचन के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी—विद्वानों के समुच्चायक व्याख्यान। जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान डा० ए० एन० उपाध्ये ने 'जैन विद्या का भारतीय परम्परा को अवदान' विषय पर एक विस्तृत व्याख्यान दिया। आपने भारतीय भाषा, साहित्य, समाज एवं कलाओं के क्षेत्र में जैन धर्म ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है उसे बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया। तथा वर्तमान में जैन धर्म का जन-साधारण के लिए क्या दायित्व है, इस पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये। दूसरा व्याख्यान प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी का था। आपने जैन कला एवं पुरातत्त्व की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का सचित्र विश्लेषण प्रस्तुत किया। आपके निष्कर्ष थे कि भारतीय कला एवं पुरातत्त्व का अध्ययन जैन कला के सर्वांगीण अध्ययन के अभाव में अधूरा ही रहेगा, क्योंकि जैन कला ने भारत के विभिन्न प्रान्तों को मनोरम कलाकृतियों, चित्रों से सजाया ही नहीं है, अपितु भारतीय ललितकलाओं के उत्कर्ष में अपनी विशिष्ट भावभंगिमा भी प्रदान की है। प्रोफेसर वाजपेयी ने विद्वानों को स्थानीय आहाड़ के भग्नावशेषों तथा उसके परिसर में प्राप्त जैन मंदिरों की कला का भी दिग्दर्शन कराया।

समापन एवं निष्कर्ष

संगोष्ठी के समारोह की अध्यक्षता डा० ए० एन० उपाध्ये ने की। संगोष्ठी में पठित निबन्धों पर विचार-विमर्श का विवरण प्रस्तुत किया डा० श्रीमती रत्नाश्रेयान् ने। संगोष्ठी में सम्मिलित सभी विद्वानों की यह सम्मति थी कि इस संगोष्ठी से पहली बार विश्वविद्यालय स्तर पर जैन विद्या भारतीय विद्या के अध्ययन-अनुसंधान के क्षेत्र में अपने उपयुक्त स्थान को पा सकी है। अब वह सीधे दरवाज़े से प्रविष्ट हुई है। इस पंचदिवसीय संगोष्ठी में देश के विभिन्न कोनों से सम्मिलित ४५ विद्वानों द्वारा सर्व-सम्मति से यह सिफारिश प्रस्तुत की गयी कि उदयपुर विश्वविद्यालय में जैन विद्या एवं अपभ्रंश अध्ययन का एक केन्द्र अथवा स्वतंत्र विभाग यथाशीघ्र प्रारंभ किया जाए, जिसमें जैन धर्म-दर्शन का तुलनात्मक मूल्यांकन, प्राकृत-अपभ्रंश एवं क्षेत्रीय भाषाओं के ग्रंथों का सम्पादन व प्रकाशन तथा राजस्थान के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में जैन विद्या के योगदान पर अनुसन्धान कार्य हो सके। अन्त में संगोष्ठी के निदेशक डा० रामचन्द्र द्विवेदी ने जैन विद्या को भारतीय विद्या का अभिन्न अंग बतलाकर मनीषी विद्वानों को इस क्षेत्र में प्रवृत्त होने के लिए आह्वान करते हुए यह शुभ लक्षण माना कि धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के क्षेत्र के महारथी पहली बार भारत की समुच्चय संस्कृति की निर्मात्री जैन संस्कृति की चर्चा विश्वविद्यालय में कर रहे हैं।

स्वागत सहयोग

जैन विद्या की इस संगोष्ठी को सफल बनाने में संस्कृत विभाग के प्राध्यापक बंधुओं तथा छात्रों का पूरा सहयोग रहा है। उदयपुर विश्वविद्यालय के वित्त-नियंत्रक श्री अविनाशचन्द्र शर्मा तथा उनके सहयोगियों, डा० दयाकृष्ण मिश्र, निदेशक, विस्तार निदेशालय तथा अन्य विभागों के प्राध्यापकों व छात्रों के सहयोग को भुलाया नहीं जा सकता। जैन विद्या की इस संगोष्ठी की सफलता के वे समभागी हैं।

संगोष्ठी के आयोजन में दूसरा समभाव स्थानीय जैन समाज के सहयोग का था। इस प्रकार विद्वत्सम्मेलन एवं विशुद्ध शैक्षणिक कार्यक्रम में पहली बार समाज ने पूरी रुचि के साथ भाग लिया तथा अपने दायित्व को पूर्णतः निबाहा। विद्वानों के स्वागत-सत्कार की अधिकांश व्यवस्था स्थानीय जैन समाज ने की। श्री अग्रवाल दि० जैन समाज, श्री जैन मुमुक्षु मंडल, श्री बीसपंथी दि० जैन समाज, श्री श्वे० तेरापंथ समाज, श्री वर्द्धमान स्थानकवासी संघ, श्री श्वे० मूर्तिपूजक जैन समाज तथा भारत जैन महामण्डल आदि के उत्साही कार्यकर्ताओं ने न केवल संगोष्ठी के विद्वानों के जलपान एवं भोजनादि की सुन्दर व्यवस्था की, अपितु संगोष्ठी के शैक्षणिक कार्यक्रमों में भी वे निरंतर उपस्थित रहे। विद्वानों को समाज के बीच ले जाकर उनकी विद्वता एवं अनुभवों से लाभान्वित भी हुए।

जैन विद्या का भारतीय संस्कृति को अवदान[1]

डा० पी० एस० लांबा
(उपकुलपति, उदयपुर विश्वविद्यालय)

मुझे अपनी ओर से तथा उदयपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'जैन विद्या का भारतीय संस्कृति को योगदान' विषयक सेमिनार में भाग लेने के लिए देश के विभिन्न भागों से आये हुए प्रतिनिधियों तथा यहां उपस्थित सज्जनों का स्वागत करते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है। एक दृष्टि से, विश्वविद्यालय के विभागों का यह दायित्व हो जाता है कि वे इस प्रकार के 'सेमिनारों' का आयोजन करें जिससे समाज के शैक्षणिक दृष्टिकोण का विकास हो। मुझे यह कहते हुए गर्व का अनुभव होता है कि हमारे विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग इस प्रकार के सेमिनारों को यहां सक्रियता से आयोजित करता चला आ रहा है। संस्कृत विभाग द्वारा आयोजित यह दूसरा सेमिनार है। प्रथम सेमिनार १६६८ में 'काव्यशास्त्रीय आलोचना के सिद्धान्त' पर किया गया था, जिसकी भव्य सफलता की प्रशंसा विद्वानों ने की। प्रस्तुत सेमिनार का विशेष महत्त्व है। जैसा आप सब लोगों को विदित है कि आगामी १३ नवंबर, १६७४ को विश्व के महान् क्रान्ति-दूत तीर्थंकर महावीर के निर्वाण का पचीस शती-पूर्ति का पर्व राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है। मुझे यह बताने की आवश्यकता नहीं कि विश्व-इतिहास में भगवान् महावीर ही प्रथम अकेले ज्योतिःपुंज उदाहरण हैं, जिन्होंने उन शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों का प्रयोग तथा प्रचार किया जिन सिद्धान्तों की आधुनिक मानव समाज को सर्वाधिक आवश्यकता है। फलतः महावीर निर्वाण की पचीसवीं शती-पूर्ति की स्मृति में समायोजित यह सेमीनार उस विशाल देन को समझाने में सफल होगा जिसके द्वारा जैन विद्या ने भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों को सम्पन्न किया है। इस सेमिनार के संयोजकों की मैं प्रशंसा करता हूं तथा इस शैक्षणिक कार्य के लिए उन्हें बधाई देता हूं। मेरी दृष्टि

१. उद्घाटन-भाषण

में इस सेमिनार का संस्कृत विभाग की ओर से आयोजित करना दो तरह से उचित है। पहली बात तो यह है कि इस विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग राजस्थान के विश्वविद्यालयों में अग्रदूत है जिसने स्नातकोत्तर स्तर पर 'प्राकृत' भाषा को अध्ययन का विषय बनाया, दूसरी बात यह कि संस्कृत ने हिन्दू धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों को परस्पर मिलाने में एक कड़ी का काम किया है। इन तीन धर्मों के नेताओं ने इसी संस्कृत भाषा के माध्यम से धर्म तथा दर्शन के महत्त्वपूर्ण विविध पक्षों पर विचार-विमर्श किया है। संस्कृत ने एक प्रकार से भारत के इन तीन धर्मों को एक मंच प्रदान किया है जिन्होंने मिलकर हमारे देश की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धरोहर के निर्माण में ठोस आधार दिया है।

आधुनिक अनुसंधान के प्रकाश में यह सर्वमान्य मत है कि जैन धर्म विश्व के प्राचीनतम जीवित धर्मों में से एक है। 'मोहनजोदड़ो' की संस्कृति वैदिक वाङ्मय तथा महावीर-पूर्व युग ने इस देश में जैन धर्म के अस्तित्व के चिह्नों को धारण किया है। जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों को केवल दो शब्दों में मूर्त किया जा सकता है—अहिंसा तथा अनेकान्तवाद— जो दर्शन तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से शान्ति-पूर्ण सहअस्तित्व के दो सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। इस तथ्य से नहीं मुकरा जा सकता कि यदि हम आचार को नियमित करने वाले सिद्धान्त 'अहिंसा' को तथा दृष्टिकोण को प्रकाश से आलोकित करने वाले 'अनेकान्त' को स्वीकार कर लें तो स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में प्रवृत्त बर्बरता, शोषण, उद्दंडता तथा शीत युद्ध समाप्त हो सकते हैं। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि जैन धर्म ने 'अहिंसा तथा अनेकान्तवाद'—इन दो सिद्धान्तों के रूप में सामान्य रूप से विश्व-चिंतन को तथा विशेष रूप से भारतीय विचारधारा को सर्वश्रेष्ठ 'देन' प्रदान की है। मुझे विश्वास है कि मेरा यह कथन अतिमूल्यांकन की कोटि तक न जायगा—कि विश्व के किसी अन्य धर्म ने 'अहिंसा' का इतना सूक्ष्म विवेचन-विवरण प्रस्तुत नहीं किया और न किसी अन्य दर्शन ने 'अनेकान्त' का इतना गहरा तथा विस्तृत विचार किया, जितना जैन धर्म ने। इस तरह, यदि अहिंसा को जैन धर्म का पुष्प माना जाए तो अनेकान्त उसका 'मुकुट' गिना जाएगा। एक के बिना दूसरे का विकास नहीं। इन दो शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म भेदों की झलक क्यों न हो, पर मेरे विचार में 'अहिंसा' जीवन के सम्मान का सिद्धान्त है तथा 'अनेकान्त' खुले दिमाग का सिद्धान्त।

अहिंसा का सिद्धान्त मानता है कि जाति, रंग तथा मत की भिन्नता रहते हुए भी व्यक्ति मूलतः अन्तिम साध्य है जिसका आत्मसम्मान का पद है। परिणामतः समस्त प्राणिमात्र के साथ उचित व्यवहार किया जाना चाहिए। कोई भी प्राणी विकास के अवसरों से लाभान्वित होने से वंचित न किया जाए। अहिंसा के स्तर पर जीवन-संचालन इस विचार को पुष्ट करता है कि राजनीति तथा अर्थनीति के

क्षेत्र में शासक तथा शासित भाव को छोड़ दिया जाए तथा विकास की स्वतंत्रता और अवसर की समानता सब लोगों की मान ली जाए चाहे लोग यूरोप, अमेरिका, एशिया या अफ्रीका के हों। अहिंसा का और भी गहरा महत्त्व उस युद्ध को मिटा देना है जिसने मानव सभ्यता के आरंभ से ही उसे त्रस्त कर रखा है। राज्यों के बीच में टकराव तथा तनाव की समाप्ति, विश्व-शान्ति की स्थापना तथा मानव-कल्याण की प्रगति तभी संभव है जब विश्व-वातावरण में अहिंसा की भावना भर दी जाए। अतः अहिंसा का सिद्धान्त यह बताता है कि शक्ति के स्तर से हटाकर जीवन को उदात्त बनाकर उसे तर्क, आग्रह, सद्भाव, सहिष्णु तथा परस्पर सेवा के स्तर पर लाया जाए। सत्य, अस्तेय, निग्रह तथा अपरिग्रह अहिंसा के ही विस्तृत गुण हैं जो मानव अस्तित्व के विभिन्न रूपों में बिखरे हुए हैं। इन पांच 'धर्मों' के प्रयोग से मानव समाज में सुरक्षा, स्वतन्त्रता, समानता तथा सम-वितरण का वातावरण बनाया जा सकता है।

जैसा पहले बताया जा चुका है, अनेकान्त 'मुक्त मस्तिष्क' का सिद्धांत है। यह इस विश्वास पर टिका है कि कोई भी वस्तु अनेक रूपों से संयोजित होती है। इसके सच्चे स्वरूप को समझने के लिए यथासंभव अनेक पक्षों पर विचार करना होता है। अनेक दृष्टिकोणों से एक विषय को समझने का सिद्धांत हमारे में एक सर्वव्यापी दृष्टिकोण पैदा करता है जो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है। जैन धर्म को इस अनेकांतवाद ने दर्शन के क्षेत्र में, दूसरे के विचारों को समझने की क्षमता प्रदान की। इसने किसी विषय के एकपक्षीय स्वरूप के दुराग्रह का विरोध किया जो सारे वैमनस्यों का मूल है। मुझे यह बताने की आवश्यकता नहीं कि 'खुला दिमाग' हमारे में उदारता तथा विचारों का संतुलन पैदा करता है। इस प्रकार अनेकांतवाद तथा इससे उपसिद्धांत 'नयवाद' और स्याद्वाद' ने एक आवश्यक मूलाधार हमें दिया है, जो राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने तथा व्यक्ति में बौद्धिक ईमानदारी की भावना का विकास करने में समर्थ होगा। यदि भारतीय साहित्य के इतिहास का निरपेक्ष अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि जैन विद्वानों ने साहित्य के विकास में महान् योग दिया है। 'भगवान महावीर ने जनभाषा में अपना उपदेश दिया'---इस तथ्य ने उनके अनुयायियों को सशक्त प्रेरणा दी। फलतः उन्होंने ज्ञान का विस्तार कर महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों का निर्माण इन्हीं जनभाषाओं में किया। इसी तथ्य के कारण जैनों ने प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, राजस्थानी, तमिल, कन्नड़, गुजराती आदि भाषाओं के द्वारा साहित्य को संपन्न किया। विभिन्न भाषाओं को अपनाने के साथ-साथ उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रंथ रचे। जर्मन विद्वान ह्वूलर लिखते हैं—"व्याकरण, गणित, ज्योतिष तथा ललित वाङ्मय में जैनों की उपलब्धि इतनी उच्च है कि उनके विरोधियों को चकित होना पड़ा है तथा कुछ ग्रंथ तो आज भी

यूरोपीय विज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। दक्षिण में द्रविड़ समुदाय के बीच में काम करके जैनों ने इन भाषाओं के भी विकास में योग दिया। कन्नड़, तमिल व तेलुगु जैसी साहित्यिक भाषाओं की आधारशिला भी इन जैन साधुओं ने स्थापित की।" जन भाषाओं में संपन्न साहित्य के निर्माण करने के अतिरिक्त जैनों ने संस्कृत को भी अपनाया जो विदग्ध-विद्वानों की भाषा मानी जाती है। परिणामत: उन्होंने संस्कृत में भी विस्मय-विमुग्ध करने वाले महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना की जो कि एक ठोस योगदान है।

यह बताना भी असंगत न होगा कि राजस्थान जैन साहित्य का महान केंद्र रहा है। चित्तौड़ के हरिभद्र तथा हरिषेण, जालोर के उद्योतनसूरि, मांडलगढ़ के आशाधर, जयपुर के पं० टोडरमल, जोधपुर के आचार्य भिक्षु तथा उदयपुर के आचार्य गणेशीलाल राजस्थान के जैन विद्या के श्रेष्ठ विद्वानों में से हैं। राजस्थान के जैन विद्वानों का प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत तथा ठेठ हिंदी में अपूर्व योगदान रहा है। राजस्थानी तथा उसकी अनेक बोलियों के उद्‌भव तथा विकास का अध्ययन तब तक संभव नहीं जब तक इस क्षेत्र के जैन लेखकों के अपभ्रंश ग्रंथों का अध्ययन न किया जाए। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इतिहास के अनेक काल-खंडों में भिन्न भाषाओं में लिखे ग्रंथों को सुरक्षित रखने के लिए जैनों ने हस्तलिखित पांडुलिपियों के बड़े पुस्तकालय स्थापित किये। जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर, अजमेर, नागोर, कोटा, बूंदी, ब्यावर, उदयपुर, जोधपुर तथा अन्य अनेक स्थान अपने हस्तलिखित ग्रंथों के संपन्न संग्रहालय के रूप में प्रसिद्ध बने हुए हैं। वस्तुत: प्रत्येक जैन मंदिर हस्तलिपि का एक छोटा ग्रंथागार है। राजस्थान के इन संग्रहालयों में अलभ्य कुछ दुष्प्राप्य ग्रंथ भी सुरक्षित हैं। ये हस्तलिखित ग्रंथ हमारी राष्ट्रीय धरोहर के भाग हैं तथा उन्हें प्रकाश में लाने के पूर्ण प्रयत्न किये जाने चाहिए। मेरा विचार है कि यदि विश्वविद्यालय इस दायित्व को संभालें तो भारतीय साहित्य की समृद्धि में ठोस योगदान दिया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जैनों ने कला व स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र के विकास क्षेत्र में भी अतिप्राचीन काल से अपना हाथ बंटाया है। मथुरा जैन कला का बड़ा केंद्र रहा है। ईसा की पहली शताब्दी से ही वह जैन कला तथा स्थापत्य का 'खजाना' रहा है। जैन स्थापत्य का प्राचीनतम रूप 'स्तूप' है, जो मथुरा की खुदाई से हमें प्राप्त हुए हैं। जैन साधुओं ने अपनी अध्यात्म-साधना तथा धर्मोपदेश के लिए सदा ही रम्य प्राकृतिक स्थल चुने हैं अत: उन्होंने इस प्रयोजन से गुहा तथा गुहामंदिर भी बनाए। ऐसे प्राचीनतम जैन गुहाओं के अवशेष बिहार, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, उड़ीसा, मैसूर तथा मद्रास राज्य में मिले हैं। कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जैन गुफाएं 'एलोरा' के इन्द्रसभा तथा जगन्नाथ सभा के समूह के रूप में विद्यमान हैं। पर्सी

ब्राउन नामक विद्वान् के मतानुसार—"एलोरा का कोई अन्य मंदिर अपनी व्यवस्था में इतना पूर्ण तथा शिल्प में इतना निर्दोष नहीं जितनी इंद्रसभा की ऊपर की मंजिल।" प्रसंगवश मैं इतना संकेत और दे दूं कि इनमें भारत के पुरावृत्त के चित्र हमें मिलते हैं जिन्हें हिंदू धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने बखूबी प्रदर्शित किया है। ये गुफाएं चट्टान के तक्षण शिल्प के भव्य उदाहरण हैं। ये मंदिर के निर्माण-शिल्प से नितांत भिन्न व विशिष्ट हैं। देश के अन्य भागों में भी जैनों ने बड़ी संख्या में मंदिर का निर्माण किया है। दक्षिण में हलविदा तथा मोदबीदरी के मंदिर, मध्यप्रदेश में देवगढ़ तथा खजुराहो के मंदिर, राजस्थान में राणकपुर तथा दिलवाड़ा मंदिर, गुजरात में पालिताना व गिरनार के मंदिर जैनों के गृहनिर्माण शिल्प के कुछ निदर्शन हैं। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जैनों ने 'मंदिरों' के लिए बड़ी चित्रोपम स्थली चुनी है। कुछ स्थानों पर तो जैनों ने मंदिर-नगरों तक का निर्माण किया है। राजस्थान में चित्तौड़ का कीर्ति-स्तंभ तथा मैसूर में श्रवण बेलगोला में बाहुबलि की प्रतिमा—जैनों की भारतीय कला को विशिष्ट देन है।

यह बताना भी अप्रासंगिक नहीं कि सुदूर दक्षिण में 'सित्तनवासल' के गुहा-मंदिर में भारत के शिष्ट भित्तिचित्रों के उत्कृष्ट उदाहरण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त ताड़पत्र पोथियों तथा कागज़ के ग्रंथों पर चित्र अंकित किये गये हैं जो दिल्ली, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर के ग्रंथागारों में सुरक्षित हैं। ये इस बात को प्रमाणित करते हैं कि किस तरह जैनों ने भारतीय कला की समृद्धि में योग दिया है। राजस्थान के पांडुलिपि-संग्रहालयों में वस्त्र पर अंकित चित्र तथा चित्रित काष्ठ पात्र के ढक्कन मिले हैं। जैसलमेर के 'भंडार' में बारह लकड़ी के चित्रित ढक्कन प्राप्त हुए हैं। उनमें प्राचीनतम २६ इंच लंबा ३ इंच चौड़ा है। यह चित्रित ढक्कन बड़े महत्त्व का है; क्योंकि यह अपनी तरह का प्राचीनतम अवशेष तथा यह चित्रकला, एलोरा चित्रशैली तथा पश्चिम भारत की पूर्ण विकसित चित्र-शैली के बीच की कड़ी है। अब तक मैंने आप लोगों का ध्यान उन कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान की ओर खींचा जो जैनों ने धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में दिये हैं। मैं साथ में यह भी संकेत देना चाहता हूं कि इन शैक्षणिक अध्यवसायों ने जैन सन्तों को सामाजिक तथा राष्ट्रीय कर्तव्यों से विमुख नहीं किया। यह स्पष्ट है कि वे इस बात से पूर्ण अभिज्ञ थे कि सामाजिक उत्थान तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के बिना कोई भी उपादेय सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जैन साधुओं ने हमेशा जनता का ध्यान, वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्यों की ओर खींचा जो बौद्धिक-सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में अनिवार्य हैं। क्योंकि वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण किया करते थे। बड़े समुदाय के संपर्क में आते थे। अतः वे जनता को सफलतापूर्वक साग्रह प्रेरित कर सकते थे कि लोग अहिंसा की भावधारा

के अनुसार अपनी भौतिक आवश्यकताओं को नियमित करें। कुछ जैन सन्तों ने अपनी साधना तथा ज्ञानोत्कर्ष के कारण शासकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। अकबर ने 'हरविजयसूरि' को फतहपुर सिकरी आमंत्रित किया जहां उसने पहले अबुलफजल से धर्म व दर्शन पर विचार-विमर्श किया, फिर स्वयं सम्राट से। अंत में 'हरविजयसूरि' ने सम्राट को साग्रह मनाकर यह फरमान निकलवाया कि छह महीनों तक पशु-वध प्रतिबंधित किया जाए, मृत पुरुषों की संपत्ति को राज्य द्वारा अधिग्रहण किया जाए तथा पकड़े हुए व पिंजरे में बंद पक्षियों को छोड़ दिया जाए। इससे सिकरी में मछली पकड़ना रोक दिया गया। 'जिनचन्द्रसूरि' ने भी अकबर से यह शाही फरमान जारी करवाया—कि प्रतिवर्ष आषाढ़ मास में एक सप्ताह तक पशु-हिंसा न की जाए। जैन संप्रदाय के इतिहासों में इस प्रकार के अनेक दृष्टांत भरे पड़े हैं। ये इस बात का प्रमाण हैं कि जैन सन्त अहिंसामूलक सामाजिक व्यवस्था को लागू करने में कितने सचेष्ट थे। अहिंसा के प्रभाव का जाज्वल्यमान उदाहरण हमें महात्मा गांधी ने दिया जो रायचंद्र को अपना गुरु मानते थे, जिनके प्रभाव से उनमें 'अहिंसा' संक्रान्त हुई। महात्मा गांधी को वास्तव में 'महावीर' का अवतार ही माना जा सकता है।

यह भी ठीक है कि अहिंसा के सिद्धांत ने जैन मतानुयायिओं को अपने कर्तव्य-कर्मों से नहीं रोका, विशेषत: जब युद्ध के प्रसंग उठ खड़े हुए। राजस्थान, गुजरात तथा कर्नाटक में जैन ऊंचे अधिकार पद पर अवस्थित थे, जिनमें कुछ सेनाध्यक्ष तक थे। मैं कुछ ही उदाहरण दूंगा। 'विमल' अपने सम्राट भीम प्रथम के साथ मोहम्मद गजनी से लड़ा था। जोधपुर के रत्नसिंह भंडारी ने मराठों से युद्ध किया। शमशेर बहादुर, महाराणा विजयसिंह का सेनापति रहा। कुंभलमेर (उदयपुर) के आशाशाह ने महाराणा प्रताप के पिता उदयसिंह की जो अल्पवयस्क शिशु था—रक्षा की, जब पन्ना धाय ने बनवीर के पंजे से उसे छुड़ाने की प्रार्थना की। महाराणा प्रताप के मंत्री भामाशाह ने मुगल सम्राट अकबर से युद्ध करने के लिए अपनी समस्त संपत्ति राणा को भेंट कर दी। भामाशाह स्वयं महान् योद्धा था। जयपुर के दीवान रामचन्द्र ने बहादुरशाह से पराजित सवाई जयसिंह को आमेर का राज्य पुन: जीतकर सौंपा। ये दृष्टान्त प्रमाणित करते हैं कि जैनों ने अपने गंभीर दायित्व से कभी मुंह न मोड़ा, न अहिंसा के बहाने कठोर कर्मों से पराङ्मुख हुए। बल्कि वे पूरी निष्ठा से अपने राज्य की सीमाओं को शत्रुओं से सुरक्षित रखने में लगे रहे। इसके प्रकाश में, यह विस्मय की बात नहीं कि जैनों ने स्वदेश के स्वतंत्रता-आंदोलन में भी अपना योग दिया है। संक्षेपत: जैनों के क्रियात्मक क्षेत्रों में ये योगदान के स्वरूप रहे हैं। मुझे विश्वास है कि विद्वानों की यह नक्षत्रमंडली—इस सेमिनार में भाग लेकर अपने विचार-विमर्शों से जैन विद्या के अध्ययन को बढ़ावा देने में पूरा योग देगी, जिसमें हमें अपनी राष्ट्रीय धरोहर के समझने तथा

मूल्यांकन करने में मदद मिलेगी। उदयपुर विश्वविद्यालय राष्ट्रीय महत्त्व के इस शैक्षणिक आंदोलन में अपना अंश-दान करने के कदम उठा रहा है।

मैं डॉ० द्विवेदी को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने मुझे ऐसा अवसर दिया। मैं एक बार फिर इस 'राजस्थान के कश्मीर'—उदयपुर में पधारे समस्त प्रतिनिधियों का स्वागत करता हूं तथा विशेष सुविधा की कमियों के लिए उनसे क्षमाप्रार्थी हूं।

भारतीय परम्परा को जैन विद्या का अवदान[1]

•

स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये
(अनुवादक : डा० विष्णुप्रसाद भट्ट)

जब मैं भारतीय परम्परा में जैनों के योगदान के सम्बन्ध में परिचर्चा करता हूं तब मैं राजस्थान को भूल नहीं सकता, जहां के जैनों ने और जैन धर्म तथा दर्शन ने उसके सांस्कृतिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा है। इस बात की विशेष समीक्षा मैं तब कर सका हूं जब मैंने डा० कैलाशचन्द जैन का शोध-ग्रंथ 'जैनिज्म इन राजस्थान' पढ़ा। अपने 'परमात्मप्रकाश' की भूमिका के लिए जब मैंने अपभ्रंश भाषा का अध्ययन किया तब मुझे कुछ राजस्थानी गीतों पर काम करना पड़ा था। तब मैंने डिंगल और पिंगल के बारे में कुछ जाना और यह भी कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य का राजस्थानी भाषा और साहित्य के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, और यह कि इसके अध्ययन के बिना राजस्थानी भाषा और साहित्य का सम्यक् ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। इन्हीं कारणों ने मुझे देश के इस भूभाग के प्रति आकृष्ट किया है।

यद्यपि भारत के प्रत्येक भाग में जैन हैं किन्तु भिन्न-भिन्न भागों में इनकी संख्या में काफी अन्तर है। भारत के पश्चिमी भाग में वे अधिक हैं। संख्या की दृष्टि से जैन लोग महाराष्ट्र के बाद राजस्थान में अधिक हैं; फिर गुजरात, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश क्रमशः आते हैं। भले ही जैनों की संख्या भिन्न-भिन्न स्थानों पर कम और अधिक है किन्तु वे संपूर्ण भारत में बिखरे हुए हैं—कश्मीर से कन्याकुमारी तथा जामनगर से जोर्हट पर्यन्त। इस प्रकार यह एक भारतव्यापी समाज है। प्राचीन काल में इसकी क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में निश्चित कुछ भी कहना बहुत कठिन है। एक जमाने में जैन धर्म बिहार में खूब पनपा था जहां ई० पू० छठी शताब्दी में महावीर और बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। किन्तु आज तद्देशीय जैन नहीं रहे हैं। यदि आज वहां

१. अध्यक्षीय भाषण का महत्त्वपूर्ण अंश

जैन हैं तो वे बहुत बाद में पश्चिमी भारत से व्यापार करने के लिए गए हैं।

देश में जैन-धर्म पिछले तीन हज़ार वर्षों से विद्यमान है। देश की सीमाओं से अधिक दूर तक यह धर्म नहीं फैला है। हम यूरोपीय विद्वानों के अत्यधिक आभारी हैं जिन्होंने इसका अध्ययन विस्तारपूर्वक किया और इसे विश्व के अन्य धर्मों के समानान्तर उपस्थित किया। पहले जैन-साधु और कतिपय जैन-गृहस्थ जैन-ग्रंथों का अध्ययन अपनी धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त होने के लिए करते थे। उनका अध्ययन मूलत: श्रद्धा और भक्तिपरक था। भारतीय अध्ययन में यूरोपीय विद्वानों के आगमन के साथ अध्ययन के लक्ष्य और पद्धति में परिवर्तन आया है। आज बौद्धिक वर्ग भारतीय धर्मों के अध्ययन में विशेष रुचि रखता है और इस तरह अन्य धर्मों के अध्ययन के साथ-साथ जैन धर्म का भी अध्ययन हो जाता है।

सौभाग्य से जैन धर्म भारत के विभिन्न भागों में शासकों की छत्रछाया में रहा है। जहां तक पूर्वी भारत का सम्बन्ध है, हम यह नहीं जानते कि उन्हें कितने समय तक यह आश्रय श्रेणिक तथा राजाओं से मिलता रहा था, किन्तु दक्षिण भारत में उन्हें पाण्ड्य, गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, कलचूरी, रट्ट, सिलाहार आदि शासक राजवंशों से निरन्तर प्राप्त हुआ था। इससे जैनाचार्यों को अपनी पवित्र धार्मिक तथा साहित्यिक गतिविधियों को गतिशील करने में प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

जब-जब जैनों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ तब-तब उन्होंने चतुर्विध दान (आहार-औषध-अभय-ज्ञान दान) की दृष्टि से संस्थाओं का विकास साधनहीन लोगों के लिए किया। साधु लोग अपना अधिकतर समय साहित्यिक उपलब्धियों तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए दे सकते थे। फलत: इससे समाज की नैतिकता का उत्थान होता था। जैन-साधुओं का जीवन त्यागमय तथा वीतरागी होता था। अत: गृहस्थ वर्ग सदैव उनका आदर करता था और उनसे सदाचार सीखने के लिए सदैव तैयार रहता था। हमारे देश की सांस्कृतिक परंपरा की समृद्धि में जैन-साधुओं का विशेष हाथ रहा है। वे सदा लोगों के बीच रहना चाहते थे ताकि उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़े। वे उपदेशक थे। अत: उन्होंने जनता की भाषा को अपनाया। कुछ ने तो इस जनता की भाषा को श्रेण्य भाषाओं की श्रेणी पर प्रतिष्ठित तक किया। जैनों ने राज्याश्रय में रहकर योग्यतापूर्वक तथा लगन से कार्य किया। स्वर्गीय डा० वी० ए० सालेतोर ने भी स्पष्ट शब्दों में इस बात को कहा है। अपरंच जब जैन लोग शासन में रहे हैं तब एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिससे यह प्रकट होता हो कि उन्होंने अन्य धर्मानुयायी को सताया। यह स्वाभाविक है। अपनी प्रजा के प्रति व्यवहार में जैन शासक सदा ही उच्चकोटि के आचार्यों से निर्देशन प्राप्त करता था। ये आचार्य अहिंसावादी तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले होते थे। वे सहिष्णु होते थे और कभी भी किसी से

दुर्व्यवहार नहीं करते थे। यह सब जैन शासकों के काल में होता था। उनके बाद जागरूक जैन वर्ग और समाज जैन धर्म के विकास में सदा सहायक रहा है। गुजरात में सिद्धराज और कुमारपाल का आश्रय अधिक समय तक नहीं रहा। बाद में व्यापारी वर्ग ने जैन साधुओं तथा जनसाधारण को विभिन्न धार्मिक एवं उदार कार्यों के लिए सदा प्रोत्साहन दिया। यही बात अन्य स्थानों और राज्यों के लिए भी लागू होती है।

दक्षिण भारत में कुछ मंदिर इतने अधिक विशाल तथा वास्तुकला की दृष्टि से इतने अधिक समृद्ध हैं कि वहां का गरीब समाज अब उनको सही हालत में भी नहीं रख सकता। करकल में अठारह जैन मंदिर हैं और कुछ वर्षों पहले वहां अठारह जैन घर भी नहीं थे। यदा-कदा यह प्रश्न पूछ लिया जाता है कि कैसे और क्यों इतने सारे मंदिर बन गये और आज उपेक्षित हैं। इस समस्या को निकट से समझने का प्रयास मैंने किया है। जब वहां जैन राजाओं का शासन था तब वहां कुछ मंत्री और सेनापति भी जैन थे। इनमें से प्रत्येक ने मंदिर बनवाया क्योंकि उनके लिए यह सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न था तथा धार्मिक कर्तव्य की बात थी। वहां के प्रतिष्ठित लोगों में तथा व्यापारियों में एक प्रकार की मौन स्पर्धा चल पड़ी थी, इसलिए प्रत्येक ने सुन्दर और सुन्दरतर मंदिर बनवाये। किन्तु जब राज्याश्रय समाप्त हुआ तब यह प्रतिष्ठित वर्ग भी, जो राजा पर आश्रित था, राजधानी को छोड़कर अन्यत्र चला गया। इस प्रकार उनके द्वारा निर्मित मंदिरों की उपेक्षा प्रारंभ हो गई। मूडबिद्री में भी बहुत से मंदिर हैं। उनका निर्माण भी व्यापारियों आदि के द्वारा हुआ है। इनके व्यापारिक सम्बन्ध अफ्रीकी देशों से थे। जो वस्तुएं वे वहां भेजते थे, उनके बदले वे आभूषण, मोती आदि मंगवाते थे। भक्ति और धार्मिकता के कारण अपने व्यापारिक लाभ से उन्होंने जिन की मूर्तियां बनवाईं। यह सब राष्ट्रीय धन है और इस पर हमें गर्व होना चाहिए।

शायद आप में से बहुत यह जानते होंगे कि मैसूर से चालीस मील दूर श्रवण बेलगोला में एक पहाड़ी के ऊपर बाहुबलि अथवा गोम्मटेश्वर की ५७ फीट ऊंची मूर्ति है। कला का यह एक उत्कृष्ट नमूना है जिस पर किसी भी देश को गर्व होगा। इसका निर्माण और प्रतिष्ठा चामुण्डराय ने की थी। चामुण्डराय का व्यक्तिगत नाम था गोम्मट; और इसीलिए बाद में जहां कहीं यह मूर्ति बनाई गई—इसका नामकरण भी उस पर ही हुआ। चामुण्डराय की वह भावना आज भी अपने देश में विद्यमान है। कुछ ही महीनों पहले धर्मस्थल के श्रीमन् वीरेन्द्रजी हेगडे ने एक प्राय: ३९ फीट ऊंची गोम्मटेश्वर की मूर्ति बनवाई है। इसका उत्कीर्णन करकल में हुआ था और स्थापना धर्मस्थल में हुई जो कि दक्षिण में एक महान् धार्मिक स्थान है। इस समारोह में मैं अध्यक्ष था। इस अवसर पर एक विशाल जलूस निकाला गया। ऐसा जुलूस कभी भी राजनैतिक नेता अथवा सभी

नेताओं के एकत्र हो जाने पर भी नहीं हो सकता। एक बार मैं एक राजनैतिक नेता का भाषण सुन रहा था। वह देश की समृद्धि तथा स्थिरता के बारे में कह रहा था। राजनैतिक नेता हमें राजनैतिक आज़ादी दे सकते हैं, कुछ टेक्निकल और टेक्नॉलोजिकल प्रगति करवा सकते हैं तथा कुछेक को धनी बना सकते हैं, किन्तु जहां तक नैतिक तथा आचार आदि मूल्यों का प्रश्न है वे कभी भी हमारे आदर्श नहीं बन सकते।

जहां तक जैनों के भारतीय संस्कृति के अवदान का प्रश्न है, अनेक ऐसे पक्ष हैं जिनसे इस विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस अल्पसंख्यक जैन-समाज ने पर्याप्त रूप से इस दिशा में उदारता का परिचय दिया है। दक्षिण भारत के मदुराई के आसपास सित्तलनिवसल (सिद्धानां वासः) तथा अन्य स्थानों पर प्राचीन गुफा-मंदिर विद्यमान हैं। इनमें ब्राह्मी शिलालेख हैं। ये गुफाएं जैन साधुओं के हित के लिए धनी वर्ग द्वारा बनवाई गई हैं। इनमें से कुछ में सूक्ष्म चित्रावली भी है जो कुछ-कुछ अजन्ता की गुफाओं की तरह है। इसके अलावा समस्त भारत में जैन मंदिर हैं। इनमें कला की दृष्टि से अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। दक्षिण में जैनों के बहुत से मंदिर हैं जिनमें से कुछ तो अभी भी पूजित होते हैं और कुछ पूर्णतः उपेक्षित हैं।

जहां तक जैनों का प्रश्न है, उनके सामाजिक समुदाय को चार स्तम्भों ने आधार प्रदान किया है। पहला स्तम्भ मंदिर है, दूसरा स्तम्भ मुनि है, तीसरा संघ के प्रति आस्था और चौथा शास्त्र। ये चारों सदा ही उनके आधार रहे हैं और उनके प्रत्येक धार्मिक कार्य को इन्होंने सुदृढ़ किया है। अपरंच, मंदिर-निर्माण तथा मूर्तिपूजा ने स्थापत्यकला को प्रोत्साहित किया है और इस प्रकार अल्पसंख्यक होते हुए भी जैनों ने इस दिशा में महान् योगदान दिया है। श्रवण वेलगोला, करकल, मूडविद्री, हलेविद आदि में विद्यमान जैन-मंदिर जैनों की स्थापत्य-कला में रुचि के गवाह हैं। राजस्थान में आबू तथा राणकपुर के मंदिर किसी भी देश के लिए गर्व की वात हैं, क्योंकि इन्होंने हमारे स्थापत्य-कला विषयक गौरव को ऊंचा उठाया है। ये हमारी सच्ची निधि हैं। इनसे हमें प्रेरणा मिलती है। इनकी कीमत हमें करनी चाहिए। इस प्रकार मंदिरों, मूर्तियों, चित्रों आदि का निर्माण करके जैन भारत की सांस्कृतिक परंपरा की श्रीवृद्धि करने में पीछे नहीं रहे हैं।

साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में भी जैनों का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संख्या की दृष्टि से इनकी साहित्य-संपदा इतनी अधिक है कि यह समझना पड़ेगा कि इतना सब कैसे संभव हो सका। जैन साधु अपने आप में एक संस्था है। उसकी आवश्यकताएं अत्यल्प होती हैं। वह दो समय भी भोजन नहीं करता। जीवित रहने तथा आध्यात्मिक लाभ एवं धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए वह मात्र

एक बार भोजन ग्रहण करता है। जैन आचार्यों में पक्षपात की भावना नहीं होती है। वे दुराग्रही तो होते ही नहीं हैं। उनके मतानुसार कोई भी भाषा दूसरी भाषा की तुलना में न तो हीन है और न उच्च। भाषा का मूल कार्य है विचारों का सम्प्रेषण। इसलिए महावीर तथा बुद्ध ने जनता की भाषा को अपनाया था। इस आदर्श का अनुकरण बाद में अशोक, खारवेल और सातवाहनों ने भी किया था।

जहां तक जैनों की बात है, उन्होंने लंबे समय तक प्राकृत भाषा को अपनी धर्म-भाषा बनाये रखा। उनका समस्त आगम तथा आगमेतर प्राचीन साहित्य प्राकृत में लिखा गया। परंतु कालांतर में, उन्होंने पश्चिम, विशेषत: गुजरात और राजस्थान की भांति अपने साहित्यिक कार्य के लिए प्राकृत को नहीं रखा। प्राकृत मात्र धार्मिक कार्यों की भाषा रही और कुछ गोम्मटसार जैसे सैद्धान्तिक तथा धार्मिक ग्रंथ इसमें लिखे गये। एक भी प्रेम-काव्य या समराइच्चकहा या कुवलय-माला की तरह का कोई धर्म-कथा-प्रधान काव्य दक्षिण में प्राकृत में रचित नहीं हुआ, जैसा कि पश्चिम भारत में किया गया। किंतु, साथ ही, जैन आचार्य इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि वे स्थानीय परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक वातावरण की अवहेलना करके किसी एक भाषा के माध्यम से अपने धार्मिक सिद्धांतों के पालन करने के कर्तव्य को पूरा नहीं कर सकते। जब उन्होंने देखा कि संस्कृत पूरे देश में ज्ञान और संस्कृति की भाषा है तो वे इसका उपयोग करने में पीछे नहीं रहे। अत: शायद ही ऐसी कोई संस्कृत साहित्य की शाखा हो जिसे जैन लेखकों और आचार्यों ने समृद्ध न किया हो। उन्होंने काव्यों के प्रणयन के अतिरिक्त व्याकरण, कोश तथा काव्यशास्त्र तथा छन्दशास्त्र आदि का निर्माण भी संस्कृत भाषा में किया है। उन्होंने स्वतंत्र तथा टीकाओं आदि के रूप में न्याय साहित्य की भी वृद्धि की है। तार्किक ग्रंथों के प्रणयन के अलावा उन्होंने भीमकाय पुराणों को भी रचा। यह केवल उनकी धार्मिक भावना ही नहीं थी जिससे अनुप्राणित होकर उन्होंने काव्य-साधना की थी अपितु कुछ की संरचना में स्थानीय भावना भी मूल में थी। अनेक राजा अपने आश्रय में पंडितमंडल रखा करते थे। हाल और विक्रमादित्य इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। भोज भी इसी प्रकार की रुचि का राजा था। भोज के अनंतर यह परंपरा गुजरात में दृष्टिगोचर होती है। सिद्धराज और कुमारपाल अध्ययन, अध्यापन और प्रणयनकर्ताओं के बहुत बड़े आश्रयदाता थे। यह अनुश्रुति है कि हेमचंद्र ने कश्मीर से सरस्वती का अपहरण किया और गुजरात ले आया। इसका क्या तात्पर्य है? मैं समझता हूं कि पाण्डुलिपियां कश्मीर से गाड़ी में भरकर गुजरात लायी गई होंगी और उनका अध्ययन तत्स्थानीय पंडितमंडल ने किया होगा। हम देखते हैं कि हेमचंद्र के नाम पर अत्यधिक पुस्तकें हैं। एक ही व्यक्ति इतना काम नहीं कर सकता। अवश्य ही अन्य युवाविद्वानों का सहयोग उसे प्राप्त हुआ होगा। इसी प्रकार इससे पहले राष्ट्रकूट काल में वीरसेन, जिनसेन और

गुणभद्र ने मिलकर कार्य किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन आचार्यों के पास पढ़ने-लिखने के अलावा और कोई काम नहीं था। इसी निष्ठा के कारण जैन-साधुओं ने प्राकृत और संस्कृत में ग्रंथों की रचना कर उत्तर भारत के साहित्य की श्रीवृद्धि की।

कन्नड़ साहित्य में भी हमें तीन प्रमुख कवि—जिन्हें रत्नत्रय कहा जाता है—उपलब्ध होते हैं—पंप, पोन्न और रण्ण। रण्ण ने गदायुद्ध की रचना की थी और इसको पढ़ते समय 'वेणीसंहार' की बरबस याद आती है। पंप में कालिदास की-सी कल्पनाशक्ति की झलक दृष्टिगोचर होती है। जैन लेखकों ने कन्नड़ की अनेक शाखाओं को दसवीं शती से पन्द्रहवीं शती के बीच पल्लवित किया। उन्होंने व्याकरण, काव्यशास्त्र और यहां तक कि अंकगणित पर भी ग्रंथ लिखे। इनमें कुछ साधु थे, किंतु कुछ गृहस्थ भी जिनमें प्रायः मंत्री, सेनापति आदि भी थे। उनका प्रमुख लक्ष्य लोगों को यथासंभव नैतिक और धार्मिक शिक्षा देना था।

धीरे-धीरे दक्षिण में जैन कवियों ने संस्कृत भाषा और साहित्य को समृद्ध किया। साहित्यिक भाषा के रूप में प्राकृत भुला दी गई। हालांकि इसका प्रयोग कुछ धार्मिक ग्रंथों— जैसे धवलाटीका और गोम्मटसार—में हुआ था। जिनसेन संस्कृत का प्रकांड विद्वान् था। उसका पार्श्वाभ्युदय काव्य कालिदास के 'मेघदूत' का समस्यापूरण है। यह उसकी अद्वितीय उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त उसने अपने गुरु वीरसेन द्वारा प्रारंभ की गई जयधवला टीका को भी पूरा किया। उसने महापुराण को भी हाथ में लिया किंतु पूरा नहीं कर सका। यह महापुराण कई दृष्टियों से एक असाधारण रचना है। इसके बाद हमें सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' उपलब्ध होता है। इसका सर्वांगीण अध्ययन डा० के० के० हिंदिकी ने प्रस्तुत किया है और साहित्यिक कृति के रूप में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसी समय, प्रायः इसी दिशा में पुष्पदंत ने अपने अपभ्रंश-ग्रंथों की रचना की है। महापुराण, णायकुमार-चरिउ और जसहरचरिउ उसकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। इन सब ग्रंथकारों को दक्षिण भारतीय साहित्य के उपबृंहण के कारण कभी भुलाया नहीं जा सकता।

जब जैन लेखकों ने कन्नड़ और तमिल भाषाओं का प्रयोग साहित्यिक दृष्टि से किया, तब व्याकरणों और कोशों की आवश्यकता का अनुभव किया गया। कुछ कन्नड़' व्याकरण संस्कृत भाषा के माध्यम से प्रस्तुत की गईं। भट्ट अकलंक ने शब्दानुशासन की रचना संस्कृत-सूत्रों में की। केशिराज द्वारा प्रणीत 'शब्दमणि दर्पण कन्नड़ का व्यवस्थित तथा पूर्ण व्याकरण है। वस्तुतः यह उदाहरण-समन्वित एक व्याख्या-ग्रंथ है। पहले कन्नड़ काव्य संस्कृतनिष्ठ होते थे किंतु बाद में अंडय्य जैसे कवियों ने 'कब्बिगर-काव जैसे' काव्यों की रचना की जिनमें अधिकांशतः कन्नड़ शब्द थे। यह प्रशंसनीय कार्य है।

प्राचीन काल से ही कई काव्यों की रचना तमिल में जैन कवियों द्वारा की गई

और आज भी की जा रही है। इस संबंध में शिलप्पदिकारम्, जीवकचिंतामणि आदि महान् कृतियां हैं। कन्नड़ में काफी काम हो चुका है और हो रहा है किंतु तमिल में अभी भी पर्याप्त गुंजाइश है—समालोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से। जैन लेखकों ने एक साथ तमिल, कन्नड़, प्राकृत और संस्कृत में रचनाएं कीं। कई बार एक ही कथासूत्र का विस्तार भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं में हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि तत्स्थानीय वातावरण की गंध के कारण उनमें अन्तर हो गया है। उदाहरणार्थ, यशोधर की कथा इन सभी भाषाओं में उपलब्ध होती है। अतः यहां इन सभी पाठान्तरों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है।

प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के क्षेत्र में जैनों ने प्रचुर योगदान दिया है। उनका लक्ष्य समाज को धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देना था। अतः उन्होंने प्रचलित भाषा को प्राथमिकता दी। उन्होंने अपभ्रंश साहित्य को अत्यन्त सावधानी से सुरक्षित रखा क्योंकि यह साहित्य उनके लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि संस्कृत और प्राकृत का। दूसरों ने इसकी सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने इस भाषा का उपयोग ही नहीं किया। हमारे पास विश्वास करने लायक ऐसे तथ्य विद्यमान हैं कि अपभ्रंश में अनेक जैनेतर ग्रंथ थे। हेमचंद्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश के अंश इस बात को स्पष्टतया संकेतित करते हैं।

हमारे कुछ हिंदी मित्र अपभ्रंश को प्राकृत से अलग समझते हैं। पर ऐसा नहीं है। परवर्ती कुछ रचनाओं के बारे में उनका दृष्टिकोण ठीक हो सकता है किंतु अन्ततः जैसे हम बिना संस्कृत और पालि के प्राकृत नहीं समझ सकते हैं, उसी प्रकार प्राकृत के संदर्भ के बिना अपभ्रंश को सम्यक् रूप से समझना असंभव है। वस्तुतः पूर्ण और सही चित्र प्राप्त करने के लिए अध्ययन में संस्कृत, प्राकृत (पालि भी) और अपभ्रंश साथ-साथ चलने चाहिए। इनमें से किसी एक में विशेषज्ञ बना जा सकता है किंतु दूसरों की पूर्णतः अवहेलना नहीं की जा सकती। जितनी हम उनकी अवहेलना करेंगे उतने ही हमारे निष्कर्ष अधूरे होंगे। राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश के भंडारों में अपभ्रंश के बहुत ग्रंथ सुरक्षित हैं। अद्यावधि जो कुछ प्रकाशित किया गया है, वह सब अत्यल्प है। बहुत कुछ पांडुलिपियों के रूप में पड़ा हुआ है। इनका प्रकाशन और आलोचनात्मक अध्ययन भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को समझने में अत्यंत उपयोगी होगा। मैं हिंदी के विद्वानों से निवेदन करता हूं कि वे इस उपेक्षित कार्य की ओर अपना ध्यान केंद्रित करें।

यह पूछा जा सकता है कि जैन धर्म ने तथा इसके अनुयायियों ने अखिल भारतीय जनता के लिए क्या किया। जैन धर्म अहिंसावादी है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह युद्धक्षेत्र में भी युद्ध के लिए निषेध करता है। कुछ विद्वानों ने इस

प्रकार का दोषारोपण इस पर किया है। परंतु यह सही नहीं है। कुछ विशेष परिस्थितियों में हिंसा करना निषिद्ध नहीं है। दक्षिण भारत के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं जहां श्रावकों ने युद्ध किये। इस प्रकार के उदाहरण गुजरात और राजस्थान में भी देखे जा सकते हैं। जैन-धर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। किंतु इसकी सीमाएं भी हैं। अपनी इज्जत, गृहिणी की इज्जत तथा देश की स्वतंत्रता की रक्षा के निमित्त हिंसा के लिए छूट दी गई है। किंतु जब तक हमारे आदर्श ऊंचे नही हैं तब तक हम विशेष अच्छा व्यवहार नहीं कर सकते। इसीलिए अहिंसा विषयक आदर्श जैन-धर्म में सर्वोपरि रखा गया है। यह सच है कि आदर्शों तक पहुंचा नहीं जा सकता किंतु आदर्शों को सामने जरूर रखने चाहिए।

जैन-मंदिरों ने, जैन-साधुओं ने और जैन-शास्त्रों ने जैन-धर्म की जागृति को अक्षुण्ण रखा है। जहां तक मैं समझता हूं जैन-धर्म का पालन करना अत्यंत कठिन है। एक सच्चा जैन अपने भगवान् के पास जाकर यह नहीं मांग सकता कि मुझे पुत्र दो या पुत्री दो या और कोई वरदान दो। जैन-तीर्थंकर इस प्रकार का कोई काम नहीं करते। यदि कोई जैन ऐसा करते हैं तो उन्होंने जैन-धर्म के परमात्मा की धारणा को नहीं समझा है। वे जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धांत के विपरीत कार्य कर रहे हैं। जैन-तीर्थंकर वीतराग हैं, निष्परिग्रही हैं और कुछ भी नहीं दे सकते। जैन-पूजा का अर्थ है कि पूजक सिद्धों की स्थिति तक पहुंचना चाहता है और इसलिए वह पूजा करता है। जैन-दर्शन में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है। वह अपने शुभाशुभ कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। किंतु दुर्भाग्यवश बहुत से जैन इस बात को भूल बैठे हैं।

जैन-धर्म के मूलाधार तीन सिद्धांत हैं—अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह। अहिंसा के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है। दर्शन के क्षेत्र में जैनों ने अनेकांत को पुरस्कृत किया है। इसका अर्थ है कि सत्य के अनेक पहलू होते हैं। अतः आदमी को सहिष्णु बनना चाहिए ताकि दूसरे का दृष्टिकोण सम्यक्तया समझा जा सके। यदि अहिंसा सामाजिक आदर्श है तो अनेकांत बौद्धिक क्षेत्र में आदर्श। समाज का सदस्य होने के नाते जैनों से कहा गया है कि वे अपरिग्रह व्रत का पालन करें। अर्थात् आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं को संगृहीत करें और अतिरिक्त वस्तुओं का दान कर दें। यह स्वैच्छिक बंधन है। स्वयं जीओ और दूसरों को भी जीने दो। जब आपका मत दूसरों से मेल न खाता हो तो दूसरों के मत को सहानुभूतिपूर्वक सुनो। यह है जैन और जैन-धर्म का प्रभाव भारतीय समाज पर।

जैन कला एवं पुरातत्त्व

•

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

जैन मूर्तिकला का प्रारंभ कब हुआ, इसका उत्तर देना कठिन है। आद्य ऐतिहासिक युग में जैन श्रमण विचारधारा के जन्म या उसके प्रारंभिक विकास के साथ क्या कला का भी उद्भव हुआ और यदि हुआ तो उसका स्वरूप क्या था, इस बारे में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। अनेक विद्वानों की धारणा है कि सिंधु घाटी की ताम्राश्मयुगीन सभ्यता में प्राप्त कतिपय कलाकृतियों में जैन प्रभाव परिलक्षित है। हड़प्पा की एक मानव धड़ मूर्ति को तीर्थंकर माना जाता है। परंतु इस मान्यता को पुष्ट आधार प्राप्त नहीं है।

मथुरा, उदयगिरि, खण्डगिरि, कौशांबी, विदिशा, उज्जयिनी आदि स्थानों से अनेक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। उनसे पता चलता है कि ईस्वी सन् के पहले उत्तर भारत में कई जगह जैन स्तूपों, विहारों तथा तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण हो चुका था। उड़ीसा की हाथीगुफा से मिले हुए राजा खारवेल के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में मगध के राजा नन्द (महापद्मनन्द) तीर्थंकर की एक प्रसिद्ध प्रतिमा कलिंग से पाटलिपुत्र उठा ले गये थे। इस मूर्ति को खारवेल मगध से फिर ले आये और उसे उन्होंने अपने राज्य में प्रतिष्ठापित किया। इस उल्लेख से पता चलता है कि तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण महापद्मनन्द के पहले प्रारंभ हो चुका था।

उत्तर भारत में जैन कला के जितने प्राचीन केंद्र थे उनमें मथुरा का स्थान अग्रगण्य है। सोलह शताब्दियों से ऊपर के दीर्घ काल में मथुरा में जैन धर्म का विकास होता रहा। यहां के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई कई हजार जैन कलाकृतियां अब तक मथुरा और उसके आस-पास के जिलों से प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें तीर्थंकर आदि प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौकोर आयागपट्ट, वेदिकास्तंभ, सूची, तोरण तथा द्वारस्तंभ आदि हैं। मथुरा के जैन आयागपट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पर प्रायः बीच में तीर्थंकर मूर्ति तथा उसके चारों ओर विविध

प्रकार के मनोहर अलंकरण मिलते हैं। स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश और मीनयुगुल—इन अष्टमंगल द्रव्यों का आयागपट्टों पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। एक आयागपट्ट पर आठ दिक्कुमारियां एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए आकर्षक ढंग से मंडल-नृत्य में संलग्न दिखायी गयी हैं। मंडल या चक्रवाल अभिनय का उल्लेख 'रायपसेनिय सूत्र' में भी मिलता है। एक अन्य आयागपट्ट पर तोरण द्वार तथा वेदिका का अत्यन्त सुंदर अंकन मिलता है। वास्तव में ये आयागपट्ट प्राचीन जैन कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें से अधिकांश अभिलिखित हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि में लगभग ई० पू० १०० से लेकर ईसवी प्रथम शती के मध्य तक के लेख हैं।

मथुरा कला की मूर्तियों में हाथ में पुस्तक लिए हुए सरस्वती, अभय मुद्रा में देवी आर्यवती तथा नैगमेश की अनेक मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। तीर्थंकर प्रतिमाएं प्रायः ध्यान-मुद्रा में बैठी हुई मिली हैं। कुछ कायोत्सर्ग मुद्रा में भी हैं। कुषाण, गुप्त तथा मध्यकाल की अनेक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं भी उपलब्ध हुई हैं। कलाकारों ने विभिन्न तीर्थंकर मूर्तियों के निर्माण में दिव्य सौंदर्य के साथ आध्यात्मिक गांभीर्य का जैसा समन्वय किया है उसे देखकर पता चलता है कि भावाभिव्यक्ति में ये कलाकार कितने अधिक कुशल थे।

प्राचीन बौद्ध एवं जैन स्तूपों के चारों ओर वेदिका की रचना का प्रचलन था। वेदिका-स्तंभों आदि के ऊपर स्त्री-पुरुषों, पशु-पक्षियों, लता-वृक्षों आदि का चित्रण किया जाता था। कंकाली टीले से प्राप्त जैन वेदिका स्तंभों पर ऐसी बहुत-सी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं जिनमें तत्कालीन आनंदमय लोकजीवन की सुंदर झांकी मिलती है। इन मूर्तियों में विविध आकर्षक मुद्राओं में खड़ी स्त्रियों के चित्रण अधिक हैं।

सौंदर्य के अनिंद्य साधन के रूप में नारी की उपस्थिति प्राचीन जैन कला में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हमारे कलाविदों ने कला के उस रूप की अभिव्यक्ति को आवश्यक माना, जिसके द्वारा न केवल लोकरंजन की सिद्धि हो अपितु समाज और धर्म को निष्क्रिय एवं निर्जीव होने से बचाया जा सके। मूर्तिकला में नारी के श्री रूप को प्रतिष्ठापित कर उन्होंने अपने इस स्पृहणीय उद्देश्य को चरितार्थ किया।

मथुरा के अतिरिक्त उत्तर भारत में अन्य अनेक केंद्र थे, जिनमें उत्तर गुप्त-काल तथा मध्यकाल में जैन कला का विस्तार होता रहा। वर्तमान बिहार तथा उत्तर प्रदेश में अनेक स्थान तीर्थंकरों के जन्म, तपश्चर्या तथा निर्वाण के स्थान रहे हैं। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन स्थानों पर धर्म, कला तथा शिक्षा संस्थाओं की स्थापना होती। कौशांबी, प्रभास, श्रावस्ती, कंपिल्य, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, देवगढ़, राजगृह, वैशाली, मंदारगिरि, पावापुरी आदि ऐसे ही स्थान थे। इन स्थानों से जैन कला की जो प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई है उससे पता

चलता है कि जैन-धर्म ने अपनी विशिष्टता के कारण भारतीय लोकजीवन को कितना अधिक प्रभावित कर दिया था। जैन-धर्म की अजस्रधारा उत्तरी क्षेत्र तक सीमित नहीं रही, वल्कि वह भारत के अन्य भागों को भी आप्लावित करती रही। मध्यभारत में ग्वालियर, देवगढ़, चंदेरी, सोनागिरि, खजुराहो, अजयगढ़, कुंडलपुर, जसो, अहारथूवोन और तुमैन एवं राजस्थान तथा मालवा में चंदाखेड़ी, पालीताना आबू-पर्वत, सिद्धवरकूट तथा उज्जैन प्रसिद्ध जैन केंद्र रहे हैं। इसी प्रकार सौराष्ट्र, गुजरात तथा वंबई प्रदेश में गिरनार, बलभी, शत्रुंजय, अणहिलवाड़ा, एलोरा और वादामी तथा दक्षिण में बेलूर, हांपी, श्रवणबेलगोला तथा हलेवीड आदि स्थानों में जैन स्थापत्य, मूर्तिकला तथा चित्रकला एक दीर्घकाल तक प्रवर्धित होती रहीं।

भारत के अनेक राजवंशों ने भी जैन कला की उन्नति में योग दिया। गुप्त-शासकों के बाद चालुक्य, राष्ट्रकूट, कलचुरि, गंग, कदम्ब, चोल तथा पांड्य वंश के अनेक राजाओं ने जैन कला को संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया। इन वंशों के कई राजा जैन-धर्मानुयायी थे। इनमें सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, अमोघवर्ष अकालवर्ष तथा गंगवंशी मारसिंह द्वितीय के नाम उल्लेखनीय हैं। इन शासकों को जैन-धर्म की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय स्वनामधन्य हेमचंद्र, जिनसेन, गुणभद्र, कुंदकुंद आदि जैन आचार्यों को है। राज्य-संरक्षण प्राप्त होने एवं विद्वान आचार्यों द्वारा धार्मिक प्रचार में क्रियात्मक योग देने पर जैन साहित्य तथा कला की बड़ी उन्नति हुई। मध्यकाल में प्रायः समस्त भारत में जैन मंदिरों एवं प्रतिमाओं का निर्माण जारी रहा। इनमें से कुछ तो ललित कला की दृष्टि से तथा तत्कालीन भारतीय संस्कृति की व्याख्या करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं।

जनाचार्यों की शब्द-विज्ञान को देन

•

साध्वी संघमित्रा

भाषा भावाभिव्यक्ति का सुंदरतम् माध्यम है। भाषा वह वाहन है जिस पर आरूढ़ होकर भाव पर **संवेध** बनते हैं। मानव-प्रगति में भाषा वरदान रूप सिद्ध हुई है। भाषा का भव्य प्रासाद शब्दों की नींव पर खड़ा होता है। शब्दों का अस्तित्व ही भाषा का अस्तित्व है। वह शब्द क्या है? इस प्रश्न के समाधान में व्याकरण-शास्त्र का निर्माण हुआ। शब्द अचिन्त्य शक्ति के प्रकटीकरण में तंत्र और मंत्र बने। विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न व्याख्याएं दीं।

'शब्दयते अनेन इति शब्दं' इस व्युत्पति के आधार पर शब्द का वह शक्त्यात्मक रूप ही प्रस्तुत निबंध का प्रतिपाद्य है, जिससे वातावरण शब्दित और ध्वनित होता है। शब्द का यह स्वरूप विज्ञान में चर्चित ध्वनि शब्द से संबंधित है।

आज वैज्ञानिक जगत् ने ध्वनितत्व ने बहुत प्रभाव पैदा किया है। उसने संपूर्ण संसार में एक विचित्र हलचल पैदा कर दी है। ध्वनि के द्वारा ही आज मानव समुद्र की गहराइयों को माप सका है और विभिन्न रोगों का निदान कर सका है। ग्रामोफोन, वायलिन, प्यानो, टेपरिकार्डर ये सब ध्वनि-विज्ञान के परिणाम हैं। और भी न जाने कितने-कितने आश्चर्यजनक कार्य ध्वनि के द्वारा किए जा सकते हैं। ध्वनि के इन प्रयोगों को देखकर मानस में सहज जिज्ञासा उभरती है, वह ध्वनि क्या है? उसके उत्पन्न और प्रसरण की प्रक्रिया क्या है? दर्शन ने इस विषय में क्या दिया है और विज्ञान क्या दे रहा है?

जैनागम और शब्द

जैन दर्शन के अनुसार शब्द पुद्गलों का ध्वनि-रूप परिणाम है। पुद्गल के दो रूप हैं—परमाणु पुद्गल और स्कन्ध पुद्गल। परमाणु पुद्गल शब्दों के जनक नहीं हैं। शब्द स्कन्ध प्रभव है। वह अनंत प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध के संघटन और विघटन से पैदा होता है। स्कन्ध स्वयं अशब्द है। कीचड़ से कमल पैदा होता

है। शैल चट्टानों से पानी का स्रोत निकलता है। अशब्द से शब्द बनता है। शब्दोत्पत्ति की यह आगमिक प्रक्रिया बहुत वैज्ञानिक है।

विज्ञान और ध्वनि

विज्ञान मानता है—ध्वनि मात्र प्रकंपन की प्रक्रिया है। शब्दोत्पादक सभी वस्तुएं कंपन करती हैं। बिना प्रकंपन के कभी ध्वनि पैदा नहीं होती। घंटी कंपन करती है तब ध्वनि उठती है। स्थिर घंटी में कभी आवाज नहीं निकलती। ट्यूनिंग फॉर्क फौलाद की छड़ का बना होता है। वह अंग्रेजी के अक्षर 'यू' के आकार में मुड़ा रहता है। इसमें किसी भी साधन से प्रकंपन उत्पन्न करने पर मधुर ध्वनि निकलती है। तब इसके किनारे स्पष्ट हिलते हुए दिखाई देते हैं। जब इनमें कंपन बंद हो जाता है तब ध्वनि भी बंद हो जाती है।

जैनागमों के आधार पर शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया दो प्रकार की है—प्रायोगिक और वैस्त्रसिक। प्रायोगिक और वैस्त्रसिक ये दोनों जैन के पारिभाषिक शब्द हैं। प्रयत्नजन्य शब्दों को प्रायोगिक कहा जाता है। सहज निष्पन्न शब्द वैस्त्रसिक कहलाते हैं।

शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं। पर सभी शब्द भाषात्मक नहीं होते। वैस्त्रसिक शब्द अभाषात्मक होते हैं। मेघ की गर्जन सहज पैदा होती है। उसमें कोई भाषा नहीं है। प्रायोगिक शब्द अभाषात्मक होते हैं और भाषात्मक भी। हमारे कंठों से उत्पन्न ध्वनि दोनों प्रकार की है। भाषात्मक ध्वनि अर्थ विशेष को अभिव्यक्त करती है। अभाषात्मक ध्वनि अर्थ-शून्य होती है। विज्ञान में संगीतमय और कोलाहलमय ये दो भेद ही मुख्यत: ध्वनि तत्त्व के किए गये हैं।

श्रवण विज्ञान

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। सब इंद्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय दो भागों में विभक्त है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। श्रोत्रेन्द्रियका बाह्याकार निर्वृत्ति है। निर्वृत्ति की वह शक्ति जो शब्द सुनने में उपकरण बनती है, वह उपकरणेन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी दो भागों में विभक्त है। लब्धि भावेन्द्रिय और उपयोग भावेन्द्रिय। श्रोत्रेन्द्रिय का जो स्वात्मजन्य क्षयोपशम है वह लब्धि है। इसके बिना श्रोत्रेन्द्रिय उपलब्ध नहीं होती। सुनने में ध्यान केंद्रित करना उपयोग है। इनमें लब्धि-इंद्रिय का स्थान प्रथम है, फिर क्रमश: निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग बनता है। अनेक शब्द निर्वृत्ति को छूकर चले जाते हैं। उपकरणेन्द्रिय के सहयोगाभाव में उन्हें सुन नहीं पाते। बहुत बार अन्य सब माध्यम काम करते हैं पर उपयोग के अभाव में शब्द सुनाई नहीं देते। श्रवण के चारों

उपकरण जब काम करते हैं तब ध्वनि सुनाई देती है।

विज्ञान मानता है कि प्रत्येक आदमी के कान के दो भाग होते हैं। एक कान का बाहरी भाग जो हमें दिखायी देता है, वह ध्वनि को ग्रहण करके अंदर पहुंचाता है। इसमें एक नली होती है जिसके बाहरी सिरे पर बाल होते हैं। ये कानों की रक्षा करते हैं। इसके आगे झिल्ली होती है। इस झिल्ली पर जाकर जब ध्वनि टकराती है तब मस्तिष्क में फैले हुए श्रवण शक्यात्मक ज्ञानतंतु इस ध्वनि को पकड़ लेते हैं। कान का पर्दा फट जाने पर मनुष्य बहरा हो जाता है। ज्ञानतंतु सुरक्षित रहने पर भी वह सुन नहीं पाता। इसी प्रकार ध्यान की विकेन्द्रित स्थिति में भी शब्दों का स्पर्श मात्र होता है। ज्ञानतंतुओं से उनका ग्रहण नहीं होता।

जैन दृष्टि के अनुसार सुनने में भी एक क्रम रहता है। इंद्रियां पहले स्थूल रूप को पकड़ती हैं। फिर क्रमशः उसके सूक्ष्म रूप का निर्णय करती हुई आगे बढ़ती हैं। इस क्रम को अवग्रहादि संकेतों में स्पष्ट किया है। इंद्रिय और पदार्थ का संयोग दर्शन है। इसे बौद्ध दर्शन में सामीप्य और नैयायिक दर्शन में सन्निकर्ष कहा जाता है। दर्शनान्तर में जो अव्यक्त ज्ञान होता है वह जैन दर्शन में व्यंजनावग्रह है। वस्तु का ग्रहण अर्थावग्रह है। यह व्यंजनावग्रह से कुछ विशद होता है। स्वरूप निश्चय में विकल्प उठाकर सम्यक् पक्ष के निर्णय पर पहुंचना ईहा है। दृढ़ निश्चय हो जाना अवाय है। लंबे समय तक ज्ञान का संस्कारों में बल पकड़ लेना धारणा है। शब्द ज्ञान भी हमें इसी क्रम से होता है। सर्वप्रथम शब्द और कान का संयोग होता है। व्यंजनावग्रह में शब्द का स्पर्श मात्र अस्पष्ट ज्ञान होता है। अर्थावग्रह में जाति, लिंग आदि के निर्देश बिना शब्द के सामान्य रूप का ग्रहण होता है। शब्द है या स्पर्श इस विकल्प के साथ ईहा शब्द होने का निर्णय देती है। अवाय सुदृढ़ निश्चय के केंद्र बिंदु पर पहुंच जाता है। यह ईहा के पर्यालोचन को ही पुष्ट नहीं करता पर अपना विशेष निर्णय प्रस्तुत करता है।

किसी भी शब्द को पकड़ते समय प्रत्येक बार यही क्रम रहता है। अवग्रह का अतिक्रमण कर कभी ईहा में और ईहा का अतिक्रमण कभी अवाय में नहीं हो सकता। सुनने के समय इस क्रम का बोध प्रायः हमें नहीं होता पर गाढ़ नींद में सुप्त मनुष्य को जगाते समय इस क्रम को समझ सकते हैं। व्यंजनावग्रह असंख्य समय का होता है। अर्थावग्रह एक समय का है। ईहा और अवाय अंतर्मुहूर्त लेते हैं। धारणा संख्येय असंख्येय काल तक जीवित रहती है।

शब्द स्कन्ध का ग्रहण और विसर्जन

औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीनों शरीरों के द्वारा शब्द-स्कन्ध का ग्रहण होता है और वचन योग के द्वारा उनका विसर्जन। शब्द-वर्गणाओं का ग्रहण सांतर और निरंतर दोनों प्रकार से होता है। सांतर की पद्धति में प्रत्येक समय के

व्यवधान से पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण होता है और उसी प्रकार से निसर्ग भी। यह सांतर पद्धति का जघन्य रूप है। अधिक से अधिक असंख्यात समय के अंतर से ग्रहण होता है। निरंतर की पद्धति में प्रति समय ग्रहण होता रहता है। लेकिन निसर्ग निरंतर नहीं होता क्योंकि प्रथम समय में ग्रहण होता है और द्वितीय समय में निसर्ग होता है। अगृहीत का निसर्ग नहीं होता है। प्रथम समय में केवल ग्रहण होता है, निसर्ग नहीं होता। अंतिम समय में केवल निसर्ग होता है, ग्रहण नहीं होता। मध्य में ग्रहण और निसर्ग दोनों चालू रहते हैं।

ध्वनि चलने के लिए किसी न किसी माध्यम को चुनती है। बिना माध्यम के चल नहीं सकती। यह अनेक प्रयोगों से प्रमाणित हो चुका है। कांच के बर्तन में घंटी बजती हुई सुनाई देती है। पम्प भरा हवा को धीमे-धीमे निकालने लगें तो ध्वनि मंद होने लगती है। संपूर्ण हवा निकालने पर घंटी हिलती हुई दिखाई देती है। पर ध्वनि सुनाई नहीं देती। ध्वनि-प्रसार के लिए हवा एक माध्यम है। इसी प्रकार लोहा, तांबा, जल, पृथ्वी आदि अनेक माध्यम हैं, जिससे ध्वनि चलती है। विज्ञान की दृष्टि से प्रकाश से ध्वनि की गति बहुत ही मंद है। वर्षा ऋतु में बादल की गर्जन और बिजली की चमक एक साथ उत्पन्न होती है। किंतु प्रकाश हमें पहले दिखाई देता है, गर्जन बाद में सुनाई देती है। प्रकाश सैकिंड में जितनी दूरी को पार करता है, ध्वनि कई घंटों में भी उतनी दूरी पार नहीं कर सकती।

ध्वनि उत्पन्न होती है तब ध्वनि केंद्र के चारों ओर लहरें बनती हैं। वे हवा की तहों में कंपन करती हुई आगे बढ़ती हैं। इन लहरों से प्रकंपित हवा की तहें जब कान की झिल्ली से टकराती हैं तब उसमें कंपन होता है और ध्वनि सुनाई देती है। कान ध्वनि को सुनते हैं। पर श्रवणीयता की भी सीमा रहती है। कंपन से ध्वनि पैदा होती है। हम हाथ को इधर-उधर हिलाते हैं तब कंपन होता है पर वह कंपनांक इतना कम होता है कि उससे उत्पन्न ध्वनि हमें सुनाई नहीं देती। स्वस्थ मनुष्य के कान प्रति सैकिंड बीस कंपन की ध्वनि को सुन सकते हैं। कुछ सोलह कंपन की ध्वनि को सुन लेते हैं। सामान्यतः कम-से-कम चौबीस कंपन की ध्वनि को सुनते हैं। कंपनांक को बढ़ाते-बढ़ाते एक ऐसी सीमा आ जाती है जहां मनुष्य के कानों से सुनना असंभव हो जाता है। यह सीमा अधिक से अधिक चालीस हजार कंपन प्रति सैकिंड तक है। इससे अधिक कंपनांक को सुन नहीं सकते। कुत्ते के कान इससे आगे भी सुन सकते हैं।

जैनागम कहते हैं कि वक्ता के द्वारा विसर्जित मूल रूप हमें कभी सुनाई नहीं देता किंतु हम मिश्रित और वासित शब्दों को ही सुनते हैं। जैसे किसी पुष्प से निकलने वाला गंध-द्रव्य अनेक रजो से मिश्रित होता है। वह मिश्रित रूप ही नाक तक पहुंचता है। इसी प्रकार वक्ता शब्दों को छोड़ता है। ये शब्द छहों दिशाओं में फैलते हुए सम-श्रेणी से चलते हैं और अन्य अनेक पुद्गल स्कन्धों से मिश्रित हो

जाते हैं। समश्रेणी के श्रोता इन मिश्रित शब्दों को सुनते हैं। शब्द अनेक अन्य पुद्गलों को आंदोलित करते हुए उनमें भी शब्द-शक्ति पैदा कर देते हैं। वे वासित शब्द कहलाते हैं। विषम श्रेणी के श्रोता इन वासित शब्दों को सुन पाते हैं।

विज्ञान की दृष्टि से ध्वनि तरंगात्मक है। एक तरंग दूसरी तरंग में शब्द शक्ति पैदा करती है। आगे से आगे बढ़ती हुई अंतिम तरंग कान की झिल्ली को तरंगित करती है, तब शब्द सुनाई देता है। जैन दृष्टि से वक्ता से विसर्जित शब्द के स्कन्ध भाषा वर्गणा के स्कन्ध में शब्द शक्ति पैदा कर देते हैं। वे वासित और मिश्रित शब्द जब इंद्रिय द्वार को खटखटाते हैं तब ध्वनि सुनाई देती है।

जैन दर्शन में गति के दो रूप हैं —ऋजु गति और वक्र गति। शब्द सदा ऋजु गति से चलते हैं और तीव्र प्रयत्न से मुक्त शब्द एक समय में लोकांत तक पहुंच सकते हैं। विज्ञान की दृष्टि से शब्द प्रति घंटा ११०० मील की गति करता है। गति संबंधी विज्ञान और आगमीय यह चिंतन विपरीत प्रतिभासित होता है। पर वास्तव में इसमें विरोध नहीं है। विज्ञान का यह माप शब्द श्रवण से संबंधित है। वक्ता और श्रोता के बीच शब्दों की मात्रा में जितना समय खर्च होता है उसी के आधार पर शब्द की गति का निर्धारण हुआ। जैन दर्शन में एक समय में लोकांत तक पहुंच जाने का क्रम शब्द की शक्ति रूप से है। श्रोता को कभी भी अंतर्मुहूर्त से पहले सुनाई नहीं देता। अतः जैन दर्शन का अंतर्मुहूर्त और विज्ञान की दृष्टि में प्रतिघंटा ११०० मील की गतिक शब्द यात्रा बहुत समकक्ष है। विज्ञान में ११०० मील की गति का संबंध भी हवा के माध्यम से है। लोहा, कांच और जल में ध्वनि की गति बहुत तीव्र रहती है। जैन दृष्टि से प्रत्येक पुद्गल स्कन्ध की स्थिति जघन्य एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात समय की होती है। इस मान्यता के आधार पर शब्द स्कन्ध भी सहस्रों वर्षों तक तद्रूप में जीवित रह सकता है।

यह विवेचन उस समय का है जिस समय ध्वनियों के स्थायित्व प्रदान करने वाले टेपरिकार्ड आदि की कल्पना भी नहीं उभरी थी। तार का संबंध न होते हुए भी सुघोषा घंटा का शब्द असंख्य योजन पर रही हुई घंटिकाओं में प्रतिध्वनित होता है। वायरलेस की दिशा में जैन दर्शन का यह संकेत जैनाचार्यों की शब्द विज्ञान के विषय में महत्त्वपूर्ण देन है।

जैनाचार्यों का व्याकरणशास्त्र को योगदान

•

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

भाषा के शुद्ध ज्ञान के लिए व्याकरण-ज्ञान परम आवश्यक है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण और विश्लेषण द्वारा भाषा के आंतरिक गठन का विचार व्याकरण शास्त्र में ही किया जाता है। लक्ष्य और लक्षणों का सुव्यवस्थित वर्णन करना ही इसका उद्देश्य है। यह शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके निर्माण की प्राणवंत प्रक्रिया के रहस्य का उद्‌घाटन करता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूलधातु या संज्ञा निहित रहती है, उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है। साथ ही धातु और प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। संक्षेप में व्याकरण भाषा का अनुकरण कर उसके विस्तृत साम्राज्य में पहुंचने के लिए राजपथ का निर्माण करता है। प्राचीन परंपरा के अनुसार इंद्र, शाकटायन, आपिशलि, काश, कृत्स्न, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र—ये आठ शाब्दिक बतलाए गए हैं।[1] इन आठों में जैनेन्द्र-व्याकरण जैन है।

व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में जैनाचार्यों ने अनेक नयी स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं। आगम-ग्रन्थों के शब्दानुशासन सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त पूज्यपाद का जैनेन्द्र, पल्यकीर्ति का शाकटायन और हेमचन्द्र का हैम व्याकरण इस शास्त्र के क्षेत्र में अद्वितीय हैं। निःसन्देह जैनाचार्यों ने व्याकरण क्षेत्र को अत्यधिक समृद्ध किया है।

जैन व्याकरणशास्त्र का उद्‌भव और विकास

भगवान् महावीर के मुख से निस्सृत द्वादशांगवाणी ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का आकर है। कहा जाता है कि सत्यप्रवाद पूर्व में व्याकरणशास्त्र के सभी प्रमुख नियम आए हुए हैं। इसमें वचन संस्कार के कारण, शब्दोच्चारण के स्थान, प्रयत्न वचन-प्रयोग, वचन-भेद आदि का निरूपण है। वचन संस्कार का विवेचन करते हुए इसके दो कारण बताये गए हैं—स्थान और प्रयत्न। शब्दोच्चारण के हृदय,

कण्ठ, मस्तक, जिह्वामूल, दन्त, तालु, नासिका और ओष्ठ—ये आठ स्थान बतलाए हैं। शब्दोच्चारण के प्रयत्नों का विवेचन करते हुए स्पृष्टता, ईषत् स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता और संवृतता—इन पांच की परिभाषाएं दी गई हैं। वचन के शिष्ट और दुष्ट प्रयोगों के विश्लेषण में शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व का भी प्रतिपादन किया गया है। अत: सत्य प्रवादपूर्व में व्याकरणशास्त्र की एक स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। जैन आम्नाय के अनुसार पूर्वग्रन्थ भगवान् महावीर के पहले के हैं। इनका पूर्वान्त नाम ही इस बात का साक्षी है कि ये परम्परा में पहले ही वर्तमान थे।

जैन आगम ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में है, अत: प्राकृत में रचा गया कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य रहा होगा। प्राकृत भाषा में लिखित आगम ग्रन्थों में व्याकरण की अनेक बातें आयी हैं।[२] ठाण-अंग के अष्टम स्थान में आठ कारकों का निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वार (सू० १२८) में तीन वचन, लिंग, काल और पुरुषों का विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थ के सूत्र १२४, १२५ और १३० में क्रमश: चार, पांच, और दस प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख आया है। सूत्र १३० में सात समासों और पांच प्रकार के पदों का कथन किया गया है। अत: संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृत में व्याकरणशास्त्र के प्रणयन के पूर्व जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में भी व्याकरण ग्रन्थ लिखे थे,[३] जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

भारतीय इतिहास में ई० पू० १८४ में शुंगवंश के पुष्यमित्र ने मौर्यवंश का अन्त कर मगध का शासन स्वायत्त किया है।[४] यह पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का अनुयायी और श्रमण-धर्म का विरोधी था। अत: इसके राज्यकाल में प्राकृत की अवहेलना और संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार हुआ। पतंजलि जैसे भाष्यकार ने अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखा। संस्कृत साहित्य की इस उत्क्रांति ने कुषाणकाल में विराट् रूप धारण किया और सार्वजनिक भाषा के साथ-साथ राजभाषा का पद भी इसे प्राप्त हुआ। फलत: ब्राह्मणों के साथ श्रमणों ने भी संस्कृत भाषा को ग्रंथ-रचना का माध्यम बनाया। श्रमणों की प्रखर प्रतिभा ने अल्पकाल में ही संस्कृत भाषा में विभिन्न प्रकार का विपुल साहित्य रच डाला। पाणिनि के पश्चात् नवीन ग्रंथनिर्माता वैयाकरण भी श्रमणों में ही हुए हैं।[५] पतंजलि और कात्यायन के अतिरिक्त जयादित्य और जिनेन्द्र बुद्धि ने भी पाणिनीय सूत्रों पर टीकाएं लिखी हैं। टीकाओं से केवल व्याकरण का विशदीकरण हुआ था। अत: जैन और बौद्धों ने, जो श्रमणों में प्रधान थे, व्याकरण के मौलिक ग्रंथ रचे। बौद्धाचार्य चन्द्रगोभी ने चान्द्र व्याकरण और जैनाचार्य देवनन्दी या पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण की रचना की। आचार्य देवनन्दी ने अपने शब्दानुशासन में निम्न छ: पूर्ववर्त्ती आचार्यों का उल्लेख किया है—

१. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् (१।४।३४)
२. कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)
३. राद्भूतबले: (३।४।८३)
४. रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८०)
५. वेत्ते: सिद्धसेनस्य (५।१।७)
६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)

उपर्युक्त सूत्रों में श्रीदत्त,यशोभद्र,भूतबलि,प्रभाचंद्र, सिद्धसेन और समंतभद्र-- इन छ: वैयाकरणों के नाम आये हैं। इनके व्याकरण संबंधी ग्रंथ रहे होंगे, पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं। अभयनंदी ने जैनेन्द्र की १।४।१६ की वृत्ति में 'उप सिद्धसेन वैयाकरण:' द्वारा यह बतलाया है कि सब वैयाकरण सिद्धसेन से हीन हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार से भी हम यह निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हैं कि जैन संप्रदाय में कौन-सा व्याकरण ग्रंथ सर्वप्रथम लिखा गया। उपलब्ध जैन व्याकरण साहित्य में देवनन्दी या पूज्यपाद का जैनेंद्र व्याकरण ही सबसे प्राचीन है।

जैनाचार्यों द्वारा लिखे गए छोटे-मोटे कई व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनमें से केवल तीन ग्रंथ ही प्रधान हैं --जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम।

जैनेन्द्र व्याकरण

यह महत्त्वपूर्ण शब्दानुशासन है। इसमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०८७ सूत्र हैं। इस व्याकरण के मूल सूत्रपाठ दो प्रकार के उपलब्ध हैं--एक तो वह जिस पर आचार्य अभयनंदि की महावृत्ति तथा श्रुतकीर्ति कृत 'पंचवस्तु' नाम की क्रिया है और दूसरा वह जिस पर सोमदेव सूरिकृत 'शब्दार्णव चंद्रिका' और गुणनंदी कृत प्रक्रिया' हैं। पहले प्रकार के पाठ में लगभग ३००० और दूसरे में लगभग ३७०० सूत्र हैं। ७०० सूत्र अधिक होने के साथ शेष ३००० सूत्र भी दोनों में एक से नहीं हैं, किंतु दूसरे सूत्रपाठ में पहले सूत्रपाठ के सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्द्धित किये गए हैं। प्रथम सूत्रपाठ पाणिनि के ढंग का है। अत: उसमें वर्तमान भाषा साहित्य की दृष्टि से अनुशासन करने में अपूर्णता रह जाती है। इसी कमी की पूर्ति अभयनंदि ने अपनी 'महावृत्ति' में वार्त्तिक और उपसंख्यानों द्वारा की है।

दोनों प्रकार के सूत्रपाठों में कतिपय भिन्नताओं के रहते हुए भी समानता कम नहीं है। दोनों के अधिकांश सूत्र समान हैं। दोनों के प्रारंभ का मंगलाचरण भी एक है। दोनों में कर्त्ता का नाम देवनंदी या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

आदरणीय स्वर्गीय प्रेमीजी ने असली सूत्रपाठ का निर्णय करते हुए लिखा है[1]-- "हमारे खयाल में आचार्य देवनंदि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिस पर अभयनंदी ने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समय तक तो समझा जाता रहा, जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायन को

भी जैनेन्द्र के होते हुए एक जुदा जैन-व्याकरण बनाने की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है और इसलिए बिना वार्त्तिकों और उपसंख्यानों के उससे काम नहीं चल सकता, परंतु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरण के भक्तों को उसकी त्रुटियां खटकने लगीं और उनमें से आचार्य गुणनंदि ने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का फल ही दूसरा सूत्रपाठ है, जिस पर सोमदेव की शब्दार्णव चंद्रिका रची गई है।" इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शब्दार्णव चंद्रिका और जैनेन्द्र प्रक्रिया के सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण के वास्तविक सूत्र नहीं हैं। अभयनंदि ने अपनी वृत्ति जिन सूत्रों पर लिखी है वे ही जैनेन्द्र के सूत्र हैं। इस शब्दानुशासन का जैनेन्द्र नाम होने का कारण रचयिता का जिनेन्द्रबुद्धि नाम ही है। श्रवणवेलगोल के ४० वें शिलालेख में बताया गया है---

"यो देवनंदि प्रथमाविधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः"
श्री पूज्यपादोऽजनि देवतार्मिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥"

आचार्य का प्रथम नाम देवनंदी था, बुद्धि की महत्ता के कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवों ने उनके चरणों की पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

'पदेषु पदैकदेशान' नियम के अनुसार जिनेन्द्रबुद्धि का संक्षिप्त नाम जैनेन्द्र है और उनके द्वारा ग्रथित शब्दानुशासन जैनेन्द्र कहा जाता है। आचार्य देवनंदी का समय स्वर्गीय प्रेमीजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी निश्चित किया है।[७] अधिकांश विद्वान इसी को ठीक मानते हैं। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने जैनेन्द्र महावृत्ति में 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन' तथा उसके 'खिल्यपाठ शीर्षक' में अरुणन्महेन्द्रोमथुराम् उदाहरण से यह निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य पूज्यपाद के काल की सीमा "महेन्द्र और उसकी मथुरा विजय" ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है। यहां महेन्द्र से आशय गुप्तवंशीय कुमारगुप्त से है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। अतः आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त के समकालीन हैं और कुमारगुप्त का समय ई० ४१३-४५५ है। अतः पूज्यपाद का समय—विक्रम की पांचवीं शती का उत्तरार्द्ध या छठी शती का पूर्वार्द्ध है। ये दर्शन और व्याकरण के धुरंधर विद्वान् थे।

इस व्याकरण में अनेक विशेषताएं हैं। पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का आधार रहने पर भी स्वर और वैदिक प्रयोग संबंधी सूत्रों का परित्याग कर दिया है। इसकी उल्लेखनीय विशेषताएं निम्न हैं —

१. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः (१।१।९९) सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर एकत्व, द्वित्व और बहुत में प्रवृत्त होते हैं। अतः एक शेष मानना निरर्थक है। अतएव इनका यह व्याकरण

अनेक शेष कहलाता है। इनका मत है कि लोक-व्यवहार में जो चीज सर्वत्र प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करने से शास्त्र का निरर्थक कलेवर बढ़ता है।

२. सिद्धिरनेकान्तात् (१।१।१) द्वारा बतलाया गया है कि नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व प्रभृति नाना धर्मों से विशिष्ट धर्मीरूप शब्द की सिद्धि अनेकान्त से ही संभव है। एकान्त सिद्धांत से अनेक धर्मविशिष्ट शब्दों का साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता।

३. जैनेन्द्र का संज्ञाप्रकरण बहुत ही मौलिक और सांकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओं के लिए बीजगणित जैसी अतिसंक्षिप्त पूर्ण संज्ञाएं आयी हैं। इस व्याकरण में उपसर्ग के लिए 'गि', अव्यय के लिए 'झिः', समास के लिए 'सः', वृद्धि के लिए ऐप्, गुण के लिए 'एप्', संप्रसारण के लिए 'जिः', प्रथभाविमक्ति के लिए 'वा', द्वितीया के लिए 'इप्', तृतीया के लिए 'या', चतुर्थी के लिए 'अप्', पञ्चमी के लिए 'का', षष्ठी के लिए 'ता,' सप्तमी के लिए 'इप्' और सम्बोधन के लिए 'किः' संज्ञाएं बतलायी गई हैं। इन संज्ञाओं की कल्पना में आचार्य का अद्भुत पांडित्य छिपा हुआ है।

४. देवनंदी ने 'सन्धौ' ४।३।६० को अधिकार सूत्र कहकर चतुर्थ अध्याय के तृतीय और चौथे पाद तथा तंचम अध्याय के कुछ सूत्रों में संधि का निरूपण किया है। अधिकार सूत्र के अनंतर छकार के परे संधि में तुगागम का विधान किया है। तुगागम करने वाले ४।३।६१—४।३।६४ तक चार सूत्र आए हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व, आङ्, माङ् तथा दी संज्ञकों के परे प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पाणिनी के समान है, किंतु इसमें अधिक सूत्रों की आवश्यकता उपस्थित नहीं होती है। संज्ञाओं की मौलिकता के कारण ही अनुशासन में लाघत्व आ गया है।

५. यह पंचांग व्याकरण है। इसमें धातु पाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन के निर्देश पूर्णतया उपलब्ध होते हैं।[८]

जैनेन्द्र व्याकरण की टीकाएं

इस व्याकरण पर अभयनंदिकृत 'महावृत्ति', प्रभाचन्दकृत शब्दाम्भोजनास्करन्यास', श्रुतकीर्त्ति कृत 'पंचवस्तु प्रक्रिया' और पं० महाचंद्र कृत 'लघु जैनेन्द्र'—ये चार टीकाएं प्रसिद्ध हैं। पंचवस्तु के अन्त के श्लोकों में जैनेन्द्र व्याकरण को महल की उपमा दी है। यह मूल सूत्र रूपी स्तम्भों पर खड़ा किया गया है, न्यासरूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके कपाट हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महल पर आरोहण किया जा सकता है। अतएव यह स्पष्ट है कि पंचवस्तु के कर्त्ता के समय तक इस व्याकरण पर एक न्यास, दो वृत्तियां, तीन

भाष्य और चार टीकाएं विद्यमान थीं।[९]

जैनेन्द्र सूत्रपाठ का संशोधित और परिवर्धित संस्करण शब्दार्णव कहलाता है। इसके कर्त्ता गुणनंदि हैं।[१०] गुणनंदि का समय दसवीं शताब्दी माना गया है। शब्दार्णव की दो टीकाएं उपलब्ध हैं—'शब्दार्णव चन्द्रिका' और 'शब्दार्णव प्रक्रिया'। 'शब्दार्णव चन्द्रिका' के रचयिता सोमदेव हैं। ये शिलाहार वंश के राजा भोजदेव (द्वितीय) के समय में हुए हैं। इन्होंने अर्जुरिका नामक ग्राम के त्रिभुवन तिलक नामक जैनमंदिर में शक संवत् ११२७ में इसकी रचना की है। यह रचना सनातन जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित है।

'शब्दार्णव प्रक्रिया' जैनेन्द्र प्रक्रिया के नाम से मुद्रित है। जिस प्रकार अभयनंदि की वृत्ति के आधार पर प्रक्रियारूप पंचवस्तुटीका लिखी गयी है, उसी प्रकार सोमदेव की 'शब्दार्णव चन्द्रिका' के आधार पर यह प्रक्रिया लिखी गई है।

जैनेन्द्र की उपलब्ध समस्त टीकाओं में अभयनन्दि कृत महावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इनका समय ई० सन् ७५० है।[११] इन्होंने मंगलाचरण के श्लोक में पूर्ववर्त्ती प्राचीन टीकाओं का भी निर्देश किया है।

यच्छन्द लक्षणमसुव्रजपारमन्यै—
व्यक्त मुक्तमभिधाण विधौ दरिद्रै:।
तत्सर्वलोक हृदयप्रिय चारुवाक्यै—
र्व्यक्ती करोत्यमयनन्दि मुनि: समस्तम्॥

कठिनता से पार करने योग्य जिस शब्द लक्ष्य को दरिद्रों ने व्याख्या करने में स्पष्ट नहीं किया, उस संपूर्ण शब्द लक्षण को अभयनन्दी मुनि सबके हृदय को प्रिय लगने वाले सुन्दर वाक्यों से स्पष्ट करता है।

अत: स्पष्ट है कि अभयनन्दी ने अपने से पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारों को 'दरिद्र:' पद से व्यक्त किया है। संभवत: ये व्याख्याएं लघुवृत्ति के रूप में रही होंगी। आचार्य अभयनन्दी की यह वृत्ति काशिका के समान बृहत् है। इसमें निम्न विशेषताएं विद्यमान हैं—

१. कात्यायन के वार्त्तिक और पतंजलि के महाभाष्य से सार लेकर पूज्यपाद से छूटे हुए व्याकरण नियमों की पूर्ति वार्त्तिक, परिभाषा और उपाख्यान रचकर की।

२. शिक्षासूत्र भी इस महावृत्ति में पाये जाते हैं। १।१।२ की व्याख्या में लगभग ४० शिक्षासूत्र दिए गये हैं।

३. परिभाषाओं की व्याख्याएं भी वृत्ति में की गई हैं।

४. अभयनन्दी ने अपनी वृत्ति में अनेक उपादिसूत्र उद्धृत किए हैं। इसमें कुछ प्राचीन पंचपादी से मिलते हैं और कुछ पाठान्तर हैं। अत: जैनेन्द्र के उणादिसूत्रों को जानने के लिए इस महावृत्ति का अध्ययन परम आवश्यक है।

अनुस्वार मकार या नकार जन्य है, विसर्ग कहीं सकार से और कहीं रेफ से स्वत: उत्पन्न होता है तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमश: क, ख तथा प, फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने इन सभी अक्षरों को अपने प्रत्याहार सूत्रों में—जो कि उनकी वर्णमाला कही जाएगी, स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। बाद के पाणिनीय वैयाकरणों में से कात्यायन ने उक्त चारों को स्वर व्यंजन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश किया। शाकटायन व्याकरण में अनुस्वार, विसर्ग आदि के मूल रूपों को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रों में स्थान दिया और उनके व्यंजन होने की घोषणा कर दी गई।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें 'लण्' सूत्र को स्थान नहीं दिया गया है और लवर्ण को पूर्व सूत्र में ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्णों के प्रथमादि अक्षरों के क्रम से अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिए दो सूत्र हैं। पाणिनीय वर्ण समाम्नाय की भांति शाकटायन व्याकरण में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१, ४३ या ४४ प्रत्याहार रूपों की उपलब्धि होती है, किन्तु शाकटायन में सिर्फ ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

शाकटायन में सामान्य संज्ञाएं बहुत अल्प हैं। इत्संज्ञा और स्वसंज्ञा—सवर्ण संज्ञा करने वाले, बस ये दो ही संज्ञा विधायक सूत्र हैं और इस व्याकरण में अवशेष दो सूत्र ग्राहक सूत्र कहे जाएंगे। ग्राहक सूत्रों में प्रथम सूत्र वह है कि जो स्वर से उसके जातीय दीर्घादि वर्णों का बोध करता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक 'सात्मेतत्' १।१।१ सूत्र है। यह प्रत्याहार बोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी आत्मा दबी-सी जान पड़ती है। यदि इसी को शब्दों के अनुसार समझना हो तो इसके पूर्व पाणिनि का 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र कंठस्थ कर लेना होगा।

यद्यपि शाकटायन में लृ वर्ण को ग्रहण नहीं किया गया है, पर उसके टीकाकारों ने "ऋवर्ण ग्रहणे लृवर्णस्यापि ग्रहणम् भवति तयोरेकत्वप्रतिज्ञानात्" कथन किया है। अत: लृकार के ग्रहण की सिद्धि कर ली है।

यह स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में संज्ञा सूत्रों की बहुत कमी है। आचार्य पल्यकीर्त्ति ने कारिकाओं में भी प्रमुख सिद्धान्तों का सन्निवेश किया है। इस शब्दानुशासन के संज्ञा प्रकरण में कुल छह सूत्र हैं, उनमें भी दो ही सूत्र ऐसे हैं, जो संज्ञा विधायक कहे जा सकते हैं। शाकटायन ही एक ऐसा व्याकरण है जिसमें बहुत कर्म संज्ञाओं से काम चलाया गया है। सरलता और आशु बोधता की दृष्टि से इस शब्दानुशासन के संज्ञा प्रकरण का अधिक महत्त्व है। पाणिनी और जैनेन्द्र के समान पल्यकीर्त्ति ने संज्ञाओं को संक्षिप्त, जटिल और सांकेतिक बनाने की चेष्टा नहीं की है।

शाकटायन में 'न' १।१।७० सूत्र के द्वारा विराम में सन्धिकार्य का निषेध

करते हुए अविराम सन्धि का विधान मानकर 'न' सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है। अच् सन्धि के आदि में सबसे पहले अयादि सन्धि का विधान किया है। पश्चात् १।१।७३ द्वारा यण् सन्धि का निरूपण किया है। यण् सन्धि के विधान के प्रसंग में शाकटायन में 'ह्रस्वो वाऽ पदे' १।१।७४ सूत्र है, इसके द्वारा दधी + अत्र = दधि-अत्र, दध्यत्र, नदी + एषा = नदिएषा = नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। शाकटायन का यह विधान बिलकुल नवीन है। पाणिनीय तन्त्र में ह्रस्व विधान का नियम नहीं है। ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय में भाषा का प्रवाह पाणिनि की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ गया है।

प्रकृतिभाव सन्धि को शाकटायन ने निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरण में केवल चार ही सूत्र आए हैं। यद्यपि पाणिनि की अपेक्षा इसमें कोई मौलिकता या नवीनता नहीं है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि शाकटायन ने बहुत थोड़े में अधिक कार्य कर दिखलाया है। शाकटायन में स्वर सन्धि के अन्तर्गत द्वित्व सन्धि को भी रखा गया है और इसका अनुशासन ६ सूत्रों में किया है। यह अनुशासन पाणिनि के समान हैं, किन्तु इसका प्रभाव उत्तरकालीन वैयाकरण हेम पर अधिक पड़ा है।

समाट् शब्द की सिद्धि शाकटायन ने 'सम्राट्' १।१।१३ सूत्र द्वारा की है। वृत्ति में 'समोमकारो निपात्यते क्लीवन्ते राजि परे' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि शाकटायन में इस सूत्र से पूर्व वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है, तो भी उन्होंने अनुस्वाराभाव का जिक्र नहीं किया है। हमें ऐसा लगता है कि निपातन कह देने से ही शाकटायन ने इसलिए सन्तोष कर लिया कि निपातन का अर्थ ही है, अन्य विकार्य स्थितियों का अभाव। अतः उन्होंने हेम की तरह अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता नहीं समझी और उनके टीकाकारों ने इस पर प्रकाश डाला।

शब्दसाधुत्व में शाकटायन का दृष्टिकोण पाणिनि के ही समान है। इन्होंने एक-एक शब्द को लेकर सातों विभक्तियों में उनके रूपों की साधनिका उपस्थित की है।

स्त्री-प्रत्यय प्रकरण में शाकटायन ने स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों का साधुत्व छोड़ दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कवरपुच्छी, मणिपुच्छी, विषपुच्छी, उलूक-पुच्छी, अश्वक्रीति, मनसाक्रीति प्रभृति प्रयोगों का शाकटायन में अभाव है। इस कमी की पूर्ति हेमचन्द्र ने २।४।४१, २।४।४२, २।४।४३ और २।४।४५ सूत्रों के प्रणयन द्वारा की है। शाकटायन में कारक सामान्य और कर्त्ता, कर्मादि की परिभाषाएं नहीं आयी हैं। इसमें विभक्ति विधायक सूत्रों का सीधे ढंग से ही कथन किया गया है। अतः शाब्दिक अनुशासन की दृष्टि से यह प्रकरण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना पाणिनि का है।

शाकटायन में समास प्रकरण आरम्भ करते ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया गया है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये हैं, जिनका उपयोग

प्राय: बहुव्रीहि समास में होता है। जैसे न, दुस्, सु, इनसे परे प्रजा शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय; न, दुस् तथा अल्प शब्द से परे मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय; जाति शब्दान्त बहुव्रीहि से छ:प्रत्यय एवं धर्म शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय होता है। इसके पश्चात् बहुव्रीहि समास में पुंवद्भाव, ह्रस्व प्रभृति अनुशासनों का नियम है। सुगन्धि, पूतगन्धि, सुरभिगन्धि, घृतगन्धि आदि सामासिक प्रयोगों के साधुत्व के लिए इत् प्रत्यय का विधान किया है। बहुव्रीहि समास समाप्त करते ही अव्ययीभाव समास का प्रकरण आरम्भ हो जाता है तथा युद्ध-वाच्य में ग्रहण और प्रहरण अर्थ में केशाकेशि और दण्डादण्डि को अव्ययीभाव समास माना है। यत: शाकटायन के अनुसार अव्ययीभाव समास के प्रधान दो भेद हैं—अन्य पदार्थ प्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अत: 'केशांश्च केशांश्च परस्परस्य ग्रहणम् यस्मिन् युद्धे' इस प्रकार के साध्य प्रयोग विग्रह वाक्य में अन्य वाक्य प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनि ने जिन प्रयोगों को बहुव्रीहि समास में गिनाया है, उनमें से कतिपय शाकटायन में अव्ययीभाव समास में परिगणित किये गये हैं।

शाकटायन का तद्धित, कृदन्त और तिङन्त प्रकरण भी प्राय: पाणिनि के अनुसार है। परन्तु इन प्रकरणों में प्रत्यय विधान और प्रत्ययों के अर्थ अपनी मौलिकता समेटे हुए हैं। कुशल अनुशासक ने उस शिल्पी का कार्य किया है, जो पुराने उपादानों को लेकर भी भवन का नये ढंग से निर्माण करता है।

शाकटायन शब्दानुशासन की सात टीकाएं अब तक उपलब्ध हैं। विवरण निम्न प्रकार है।

१. **अमोघवृत्ति**—यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के नाम पर लिखी गई है। स्वयं सूत्रकर्त्ता ही इस वृत्ति के रचयिता हैं। यह सबसे बड़ी वृत्ति है।

२. **शाकटायनन्यास**—यह अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्र कृत न्यास है। इस ग्रन्थ के केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं।

३. **चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति)**—यक्ष वर्मा ने अमोघवृत्ति को संक्षिप्त कर यह टीका लिखी है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त उपयोगी है।

४. **मणिप्रकाशिका**—अजितसेन ने चिन्तामणि के अर्थ को व्यक्त करने के लिए इस टीका का निर्माण किया है। अनुशासन की दृष्टि से यह टीका भी अध्येताओं के लिए उपयोगी है।

५. **प्रक्रिया संग्रह**—अभयचन्द्र ने सिद्धान्त कौमुदी के ढंग की यह टीका लिखी है। जो पाणिनीय तन्त्र के लिए भट्टोजि दीक्षित ने कार्य किया है, वैसा ही यह कार्य है।

६. **शाकटायन टीका**—वादिपर्वत वज्र-भावसेन त्रैवेद्य ने इस टीका की

रचना की है। यही भावसेन कातन्त्र की रूपमाला टीका के कर्त्ता भी हैं। इनका एक 'विश्वतत्व प्रकाश' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७. **रूपसिद्धि**—पाणिनि सूत्रों पर लघुसिद्धान्त कौमुदी का निर्माण इसलिए हुआ कि जिज्ञासुओं को संक्षेप में पाणिनीय शब्दानुशासन का बोध बिना किसी क्लेश के हो सकें। इस बात को ध्यान में रखकर दयापाल मुनि ने इस टीका की रचना की है। यह लघु सिद्धान्त कौमुदी के समान उपयोगी है। दयापाल के गुरु का नाम मतिसागर था। टीकाकार पार्श्वनाथ चरित और न्यायविनिश्चय के कर्त्ता वादिराज सूरि के सधर्मा थे। पार्श्वनाथ चरित की रचना शकसंवत् ९४७ में हुई है। अतः टीकाकार का समय भी उपर्युक्त ही है।[१५]

हैमशब्दानुशासन

आचार्य हेम का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना ही प्रेरक भी। इनमें एक साथ ही वैयाकरण, आलंकारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार, कोषकार, छन्द अनुशासक और महान युग-कवि का अन्यतम समवाय हुआ है। हेम के इन विभिन्न रूपों में उनका कौन-सा रूप सशक्त है, यह निश्चय करना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैयाकरण हेम अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

हेम के पूर्व पाणिनि, चान्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। इन्होंने अपने समय में उपलब्ध समस्त शब्दार्थ का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एवं सरल व्याकरण की रचना कर संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखकर हेम ने इस भाषा को तो अमर बना ही दिया है, किन्तु अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को उदाहरण के रूप में उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्य के नमूनों की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्भुत है। इन्होंने धातु और प्रातिपदिक प्राकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत और तद्धित, अपव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण, विवेचन एवं विश्लेषण किया है।

शब्दानुशासन के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टोजि दीक्षित और भट्टिकाकार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होंने सूत्रवृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायों में और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में—इस प्रकार कुल आठ अध्यायों में अपने अष्टाध्यायी शब्दानुशासन को समाप्त किया है।

संस्कृत शब्दनुाशासन के उदाहरण संस्कृत द्व्याश्रय काव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्व्याश्रय काव्य में लिखे हैं।

संस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय में २४१ सूत्र, द्वितीय में ४६०, तृतीय में ५२१, चतुर्थ में ४८१, पंचम में ४९८, षष्ठ में ६९२ और सप्तम में ६७३ सूत्र हैं। कुल सूत्र संख्या ३५६६ है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में संज्ञाओं का विवेचन किया है। इसमें स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, संध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यंजन, धुट्, वर्ग, अघोष, घोषवत्व, अन्त:स्थ, शिट्, स्व, प्रथमादि, विभक्ति, पद, वाक्य, नाम, अव्यय और संख्यावत् इन २४ का प्रतिपादन किया है। 'शिष्टायस्य द्वितीयो: वा', १।३।५९ द्वारा ख्षीरम्, क्षीरम् तथा अफ्सरा, अप्सरा जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी का खीर शब्द हेमचन्द्र के ख्षीरम् के बहुत नजदीक है।

हेम ने इस प्रकरण में व्यंजन और विसर्ग इन दोनों संधियों का सम्मिलित रूप में विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यंजन संधि के हैं तथा कुछ विसर्ग के और आगे बढ़ने पर विसर्ग संधि के सूत्रों के पश्चात् पुन: व्यंजन संधि के सूत्रों पर लौट आते हैं और अन्त में पुन: विसर्ग संधि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्य रूप से देखने पर यह एक गड़बड़झाला दिखलाई पड़ेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यंजन संधि के समान ही विसर्ग संधि को भी व्यंजन संधि ही माना है, अत: दोनों का एकजातीय स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्राय: देखा जाता है कि व्यंजन संधि के प्रसंग में आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धि के कार्य का समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्ग को 'र्' और 'स्' का प्रतिनिधि ही मानते हैं। प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में कतिपय स्वरान्त और व्यंजनांत शब्दों का भी नियमन किया गया है।

द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में अवशेष शब्द रूपों की चर्चा, द्वितीय पाद में कारक प्रकरण, तृतीय पाद में षत्व-णत्व विधान और चतुर्थ पाद में स्त्री प्रत्यय प्रकरण हैं। तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद में समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थपाद में आख्यात प्रकरण आया है। चतुर्थ अध्याय के चारों पादों में भी आख्यात प्रकरण का ही नियमन किया गया है। पंचम अध्याय के चारों पादों में कृदन्त और षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कर अपने शब्दानुशासन को सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि हैम में अन्य व्याकरणों की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि से बहुत कुछ लिया है, पर इस अवदान को मौलिक और नवीन रूप में ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। विचार करने से अवगत होता है कि संस्कृत के शब्दानु-शासकों ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी संज्ञाओं के सांकेतिक रूप दिये हैं। यत्र-

तत्र एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए, उनकी रचनाएं अलग-अलग व्याकरण के रूप में अभिहित हुईं। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण एक ही संस्कृत भाषा में व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होंने स्वर तथा व्यंजन विधान संज्ञाओं का विवेचन करने के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम और वाक्य संज्ञाओं का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गए हैं। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने संभालने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर इन्होंने वाक्य की जो परिभाषा 'एकतिङ् वाक्यम्' दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारों ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी 'एकतिङ् वाक्यम्' के दायरे से दूर नहीं जा सके हैं, फलत: उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नहीं हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यों की त्यों बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है—'सविशेषण-माख्यातं वाक्यम्' १।१।२६। 'स्याद्यन्तं पदमाख्यातं साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं प्रयुज्यमाना प्रयुज्य-मानं वा आख्यातं वाक्यसंज्ञं भवति।' अर्थात् मूलसूत्र में सविशेषण आख्यात की वाक्यसंज्ञा बतलाई गई है। यहां आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, संज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषणों का साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्र के वृत्त्यंश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रज्युमान विशेषणों के साथ प्रयुज्य-मान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात की ही वाक्य में प्रधानता रहती है। यहां विशेषण शब्द से केवल संज्ञाविशेषण को ही ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु साधारणत: अप्रधान अर्थ में इसे ग्रहण किया है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य में आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है? हेम ने अपनी वाक्य-परिभाषा का सम्बन्ध 'पदायुग्विभक्त्येक वाक्ये रस्नसौ बहुत्वे' २।१।२१ सूत्र से भी माना है। अत: पाणिनीय तन्त्रकारों की अपेक्षा हेम की वाक्य-परिभाषा अधिक तर्कसंगत है।

हेम ने सात सूत्रों में अव्यय संज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपात संज्ञा को अव्यय संज्ञा में ही विलीन कर लिया है। इन्होंने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह संक्षिप्तीकरण का एक लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और संख्यावत् संज्ञाओं का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अत: इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। संज्ञा प्रकरण की हेम की संज्ञाएं शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय संज्ञाएं अर्थानुसारी

हैं। पाणिनि के समान हेम की संज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अतः हेम ने पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा कम संज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी संज्ञाओं को ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञाएं पाणिनि ने भी लिखी हैं, किन्तु हेम ने इन संज्ञाओं में स्पष्टता और सहजबोध-गम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रि मात्रिक को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनि के 'उकालयोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' १।२।२६ सूत्र में हेम का उक्त भाव अंकित है, किन्तु हेम ने एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण कर दिया है।

हेम और पाणिनि की संज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहारों के झमेले में नहीं पड़े हैं, इनकी संज्ञाओं में प्रत्याहारों का बिल्कुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने संज्ञा विधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओं का निरूपण किया है, जिससे प्रत्याहार क्रम को स्मरण किये बिना संज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेम का संविधान पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट है।

सन्धि प्रकरण में भी हेम ने लाघव को कायम रखने की पूरी चेष्टा की है। गुण सन्धि में ऋ के स्थान पर अर् और लृ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिए पृथक् 'उरणरपरः' १।१।५ सूत्र में लिखना पड़ा है। हेम ने इस एक सूत्र की बचत कर ली है। पाणिनि ने 'एङिपर रूपम्' ६।१।६४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए हो तो पर रूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने 'वोष्ठौतौ समासे' १।२।१७ द्वारा लुक् का नियमन किया है। अतः पाणिनि की अपेक्षा हेम में लाघव है। हेम ने यह प्रक्रिया शाकटायन से अपनायी है।

पाणिनि ने ७।१।५७ के द्वारा जस् के स्थान पर 'शी' होने का विधान किया है हेम ने १।४।६ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'ई' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहां यदि केवल 'ई' का नियमन होता, तो यह जस् के अंतिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शी का विधान किया। हेम के यहां इस तरह का कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहां जस् के स्थान पर किया गया 'ई' का नियमन समस्त जस् के स्थान पर होता है। अतः यहां हेम की लाघव दृष्टि है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं की, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया है। जहां पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य को रोका है, वहां हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नहीं मानकर काम चलाया है। यह

भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है। पाणिनि ने 'आम्' को 'साम्' बनाने के लिए सुट् का आगम किया है पर हेम ने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग लतायैं, लतायाः और लतायां की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड़ प्राणायाम किया है। उन्होंने ७।३।११३ सूत्र से याट् किया है, पुनः वृद्धि की, तब लतायैं बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लतायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ द्वारा सीधे यैं, याट् और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपों का सहज साधुत्व दिखलाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघवसूचक है। मुनि शब्द की 'औ' विभक्ति को पाणिनि ने पूर्व सवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने १।४।२१ सूत्र द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ इकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का अनुशासन किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानों के लिए अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है। मुनौ प्रयोग में पाणिनि ने ७।३।११९ के द्वारा इ को उ और ङी को औ किया है तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है। किन्तु हेम ने १।४।२५ सूत्र के द्वारा ङी को ङौ किया है, जिससे यहां ङ् का अनुबन्ध होने से मुनि शब्द का इकार स्वयं ही हट गया है। अतएव मुनि शब्द के नकार में रहने वाले इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय तन्त्र में क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई नियम नहीं है। बाद के वैयाकरणों और नैयायिकों ने 'क्रियाविशेषणानां कार्यत्वं' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने २।२।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में संगृहीत कर लिया है। पाणिनि ने २।३।१६ सूत्र द्वारा अलं शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थ सभी शब्दों के योग में चतुर्थी का नियमन किया है, इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए अलं शब्द को पर्याप्तार्थक मानना पड़ता है अन्यथा 'अलं महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य व्यवहृत हो जाएंगे। हेम ने शक्त्यर्थ और पर्याप्तार्थक शब्दों के साधुत्व को पृथक् कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हेम में पाणिनि जैनेन्द्र और शाकटायन की अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है, पर यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि हेम ने उक्त तीनों व्याकरणों से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्यपाद और पाणिनि की अपेक्षा हेम ने शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र के 'सिद्धिरनेकान्तात्' का प्रभाव 'सिद्धिः स्याद्वात्' १।१।२ पर स्पष्ट है। हेम ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण में जैनेन्द्र के सूत्र ज्यों के त्यों अपनाये हैं।

शाकटायन व्याकरण की शैली का प्रभाव तो हेम पर सर्वाधिक है। यहां एक उदाहरण देकर उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने 'पारमध्येषष्ठ्यावा' २।१।१८, पूज्यपाद ने 'पारे मध्येतयावा' १।३।१५ और शाकटायन ने 'पारेमध्येऽन्तः षष्ठ्या वा' २।१।६ सूत्र लिखा है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर 'पारेमध्येऽग्रेन्तः षष्ठ्या वा' सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणों के सूत्र की हेम के सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है।

शाकटायन के 'ननूपूजार्थध्वजचित्रे' ३।२।३४ का अमोघवृत्ति सहित हेम ने 'न नृप पूजार्थध्वजचित्रे' ७।१।१०६ में शब्दशः अनुकरण किया है। यद्यपि हेम ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों से बहुत कुछ लिया है तो भी अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासन में अनेक नवीनताएं लाने का उनका प्रयास प्रशंस्य है।

हेम शब्दानुशासन का अष्टम अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। इसमें ४ पाद और कुल १११६ सूत्र हैं। प्रथम पाद में स्वर और व्यंजन विकार, द्वितीय में संयुक्त व्यंजन विकार, तृतीय में सर्वनाम, कारक, कृदन्त एवं चतुर्थपाद में धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा की जानकारी के लिए इससे बड़ा और सर्वांगपूर्ण व्याकरण और कोई नहीं है। पाणिनि ने जिस प्रकार वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत भाषा का अनुशासन किया, उसी प्रकार हेम ने लौकिक संस्कृत तथा उसकी निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषा के तत्त्वों की जानकारी हेम की अद्भुत है। हैमशब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरण के अकेले अध्ययन से ही लोकप्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओं की यथेष्ट जानकारी हो सकती है। यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है। हैमशब्दानुशासन पर निम्न टीकाएं उपलब्ध हैं—

नाम	**कर्त्ता**	**संवत्**
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र गणि	हेमचन्द्र कालीन
लघुन्यास	धर्मघोष	,,
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	,,
हेमलघुवृत्ति	काकाल कायस्थ	हेमचन्द्र के समकालीन
हैमवृहद्वृत्तिढुंढिका	सौभाग्यसागर	१५६१
हैमढुंढिकावृत्ति	उदय सौभाग्य	,,
हैमलघुवृत्तिढुंढिका	मुनिशेखर	,,
हैमअवचूरि	धनचन्द्र	,,

नाम	कर्त्ता	संवत
प्राकृत दीपिका	द्वितीय हरप्रभ	१५६१
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	,,
हैम चतुर्थपादवृत्ति	हृदय सौभाग्य	,,
हैम व्याकरण दीपिका	जिनसागर	,,
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	,,
हैम दुर्गपद प्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैमकारक सुच्चय	श्री प्रभसूरि	१२८०
हैमवृत्ति	,,	,,

हैम व्याकरण से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ

लिंगानुशासन वृत्ति	जयानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्न समुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैमविभ्रमसूत्र	गुणचन्द्र	
हैमविभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदयचन्द्र	
न्यायमंजूषान्यास	हेमहंस	
न्यायमंजूषा	,,	१५१५
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	
हैमकौमुदी	मेघविजय	१७५८
शब्दचन्द्रिका	,,	१७६१
हैमप्रक्रिया	महेन्द्र सुतवीरसी	
हैमलघुप्रक्रिया	विनय विजय-तपागच्छ के आचार्य	
भिक्खुव्याकरण	अधुनातन	
काल कौमुदी	अधुनातन	

इन प्रसिद्ध तीन महाव्याकरणों के अतिरिक्त कातंत्र, यशोभद्र कृत जैन-व्याकरण, आर्य व्रजस्वामी कृत जैन व्याकरण, भूतबली जैन व्याकरण, श्रीदत्त कृत जैन व्याकरण, प्रभाचंद्र कृत जैन व्याकरण एवं सिंहनंदी कृत जैन व्याकरण के नामों की सूचना मिलती है।[१६]

कातंत्र के मूल सूत्रों के रचयिता के संबंध में विवाद है,[१७] पर इतना सत्य है कि कातंत्र रूपमाला के रचयिता भावसेन त्रैवेद्य[१८] हैं। यह व्याकरण साहित्य के

महान् विद्वान् थे। कातंत्र का प्रचार प्राचीन काल में बहुत था। संस्कृत भाषा को सरलता के साथ सीखने में यह व्याकरण बहुत सहायक है। कातंत्र में संज्ञाओं का कोई स्वतंत्र प्रकरण नहीं है, संधि-प्रकरण के पहले पाद में प्रायः सभी प्रमुख संज्ञाओं का उल्लेख कर दिया गया है। इस व्याकरण की 'सिद्धो वर्ण समाम्नायः' यह प्रथम सूत्रीय घोषणा अत्यंत गंभीर है। इस सूत्र द्वारा वर्णों की नित्यता स्वीकार की गई है। इसमें प्रत्याहार का झमेला नहीं है। संधि, शब्द, विभक्त्यर्थ, स्त्री-प्रत्यय, समास, तिङन्त, कृदंत और तद्धित— सभी प्रकरण इस व्याकरण में हैं। कातंत्र के तिङन्त प्रकरण में कालवाची क्रियाओं का नामकरण, वर्त्तमाना, परोक्षा, सप्तमी, पंचमी, ह्यस्तनी, अघतनी, आशीः, श्वस्तनी, भविष्यंति और कियातिपत्ति के रूप में किया गया है। जैनेन्द्र और शाकटायन में लकारों का निरूपण है, किंतु हेमचंद्र ने अपने शब्दानुशासन में कातन्त्र सम्मत कालवाची क्रियाओं को स्थान दिया है। कातन्त्र व्याकरण के पठन-पाठन का प्रचार जैन-सम्प्रदाय में बहुत अधिक रहा है। इसकीएक प्रमुख विशेषता विराम में अनुस्वार का होना भी है। स्वर्गीय पं० पन्नालाल वाकलीवाल ने इसी व्याकरण के आधार पर 'बालबोध' नामक अति सरल व्याकरण लिखा है। कातन्त्र पर सकलकीर्त्ति द्वितीय कृत कातन्त्र रूपमाला लघुवृत्ति, दुर्गसिंह कृत कातन्त्र व्याकरण की वृत्ति और रविवर्माचार्य कृत कातन्त्र व्याकरण की वृत्ति उपलब्ध हैं। वर्द्धमान कवि की 'कातन्त्र विस्तार' नाम की टीका भी उपलब्ध है।[११] इस टीका में सूत्रों की व्याख्या के साथ अनेक नवीन उदाहरण भी सम्मिलित किए गए हैं। इसमें कई उदाहरण काशिका वृत्ति के हैं। कातन्त्र के रचयिता का नाम सर्ववर्मा होने से विद्वान् इनके जैन होने में सन्देह करते हैं। परन्तु इनके प्रथम सूत्र का 'सिद्ध' पद से प्रारम्भ होना, इनके अधिकांश टीकाकारों का जैन होना और जैन समाज में इस व्याकरण का विशेष प्रचार होना आदि तथ्य इनके जैन होने की प्रतीति उत्पन्न कराये बिना नहीं रहते। इस व्याकरण के विशेष अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट होती है।

फुटकर स्रोतों से प्राप्त सूचना के आधार पर निम्न जैन व्याकरण ग्रंथों की जानकारी और भी प्राप्त होती है।

पांडव पुराण की प्रशस्ति से अवगत होता है कि १२२४ सूत्र प्रमाण 'चिंतामणि' नाम का शब्दानुशासन आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा था। यह तीन अध्यायों में विभक्त था तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद थे। इस ग्रंथ पर द्वितीय समन्तभद्र ने 'चिंतामणि' व्याकरण-टिप्पण भी लिखा है। ग्रन्थ-प्रमाण के अनुसार यह व्याकरण उपयोगी है। यह प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है।

कन्नड़ भाषा का व्याकरण संस्कृत भाषा में अकलंक देवभट्ट ने लिखा है। इस व्याकरण का नाम 'शब्दानुशासन' है। कन्नड़ भाषा और साहित्य के विद्वानों में इस ग्रंथ का बड़ा सम्मान है। आज भी यह व्याकरण अपनी उपयोगिता के

कारण लोकप्रिय है। जैनाचार्यों ने कन्नड़ का व्याकरण कन्नड़ भाषा में भी लिखा है। कन्नड़ साहित्य और कन्नड़ व्याकरण को समृद्धशाली बनाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है।

भावसेन का मनोरमा व्याकरण, केशवराज का शब्दमणि व्याकरण, तपागच्छ के आचार्य राजविजयसूरि के शिष्य दानविजय का शब्द-भूषण, मलयगिरि का शब्दानुशासन, दुर्गसिंह का शब्दानुशासन, तपागच्छ के आचार्य विजयनन्दि के शिष्य हेमहंस विजय का 'शब्दार्थक चन्द्रिका' व्याकरण प्रभृति जैन व्याकरण साहित्य की अमूल्य निधियां हैं।

पूर्णतलियागच्छ के आचार्य देवनन्द की सिद्ध सारस्वत टीका तथा खरतर गच्छीय हेमचन्द्र उपाध्याय के शिष्य सहजकीर्ति का सिद्ध शब्दार्णव, पुण्यसुन्दर का स्वरवर्णानुक्रम धातुपाठ, धनरत्न के शिष्य नयसुन्दर का रूपरत्नमाला, कल्याण-सागर सूरि का लिंग-निर्णय, शवरस्वामी का लिंगानुशासन, दुर्गसिंह का लिंगानुशासन तथा जयनन्दसूरि का लिंगानुशासनोद्धार भी व्याकरण-संबंधी ग्रन्थ है। अर्हनन्दी के शिष्य त्रिविक्रम का प्राकृत शब्दानुशासन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका आधार हेमचन्द्र का प्राकृत शब्दानुशासन ही है।

इन व्याकरण-ग्रंथों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने सारस्वत व्याकरण पर कई टीकाएं लिखी हैं। कुछ विद्वान् तो अजितसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन को ही इस व्याकरण का रचयिता मानते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी अपने व्याकरण साहित्य के इतिहास में इस ओर संकेत किया है। हमें लगता है कि इसी कारण इस पर अनेक टीकाएं जैनाचार्यों द्वारा निर्मित हुई हैं। नागपुरीय तपागच्छ के आचार्य चन्द्र-कीर्त्ति की सं० १६६४ में लिखी गई इस व्याकरण की प्रसिद्ध टीका है।

जैन व्याकरण-साहित्य की उपलब्धियां

१. **शब्द की अनेकांतात्मकता**—अनेक धर्मात्मक होने के कारण स्याद्वाद के द्वारा शब्दों की सिद्धि पर जोर दिया है। जैनेतर वैयाकरण शब्द में वाच्य-वाचक संबंध को मानकर भी दोनों को स्वतन्त्र मानते हैं। वाचक के रूप में परिवर्तन हो जाने पर भी वाच्य के रूप में कोई परिवर्तन नहीं मानते। पर जैन शाब्दिकों का मत है कि वाचक में लिंग, संख्या आदि का जो परिवर्तन होता है, वह स्वतन्त्र नहीं है, किंतु अनन्त धर्मात्मक वाह्य वस्तु के अधीन है अर्थात् जिन धर्मों से विशिष्ट वाचक का प्रयोग किया जाता है, वे सब धर्म-वाच्य में रहते हैं।

२. वैदिक शब्दों का अनुशासन करने वाले पाणिनीय व्याकरण के पंजे से छुड़ाकर लौकिक भाषा के स्वरूप-निर्धारण में अधिक-से-अधिक योगदान देने वाले शब्दानुशासनों का निर्माण कर गतिशील भाषा को स्थिर या मृत न बनाकर उसकी गतिशीलता में सहायक हैं।

३. पाणिनीय तन्त्रों का मन्थन कर सारभूत रत्नों को उपस्थित किया, जिससे अध्येताओं के समय और श्रम की बचत हुई।

४. उदाहरणों में उन ऐतिहासिक प्रयोगों और स्थानों के नामों को सुरक्षित रखा, जिनसे आज भी देश के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं।

५. उन साम्प्रदायिक शब्दों का साधुत्व प्रतिपादन किया, जिनकी अवहेलना अन्य सम्प्रदाय वाले वैयाकरण करते आ रहे थे।

६. उदाहरणों में जैन तीर्थंकरों, जैन राजाओं, जैन महापुरुषों और जैन-ग्रंथकारों के नाम सन्निविष्ट किये तथा उक्त शब्दों की व्युत्पत्तियां बतलायीं।

७. शब्दों में स्वाभाविक रूप से अनन्त शक्तियां स्वीकार कीं, फलतः एक-शेष का त्यागकर अनेक शेष का निरूपण किया। यतः जैनेतर वैयाकरणों के अनुसार एक शब्द एक ही व्यक्ति का कथन करता है। अतः बहुत-से व्यक्तियों का बोध करना हो तो बहुत-से शब्दों का प्रयोग करके 'सरूपाणामेक शेष एक विभक्तौ' १।२।६४ सूत्र के अनुसार एक शेष किया जाता है। बहुवचन में एक रूप के शेष रहने पर बहुवचन बोधक प्रत्यय लगाकर बहुवचन शब्द बना लिये जाते हैं। अतएव व्यक्ति और जाति के स्वतन्त्र रूप से पृथक् होने के कारण एक शेष आवश्यक है।

जैन वैयाकरण शब्द को अनेक धर्मात्मक मानते हैं, अतः एक ही शब्द परिस्थिति विशेष में विशेषण, विशेष्य, पुल्लिग, स्त्रीलिंग, कर्त्ता, कर्म, करण आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण शब्द अनन्त-धर्मात्मक वस्तु का वाचक है। उसका वाच्य न केवल व्यक्ति है और न जाति, किंतु जाति व्यक्त्यात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वाच्य है। अतः एक शेष मानने की आवश्यकता नहीं। अतः शब्द स्वभाव से ही एक, दो या बहुत व्यक्तियों का कथन करता है।

८. जैन शब्दानुशासनों के पंचांगपूर्ण होने के कारण अनुशासन में लाघव और स्पष्टता।

९. वर्णित विषय के क्रम-विवेचन की मौलिकता।

१०. विकारों के उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का निरूपण।

११. विषय-विवेचन में वैज्ञानिकता और मौलिकता का सन्निवेश।

१२. ग्रन्थ-शैली की महनीयता।

१३. संस्कृत-भाषा में जैन शब्दानुशासनों का प्रणयन उस समय हुआ, जब पाणिनीय व्याकरण का सांगोपांग विवेचन हो चुका था। इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर कात्यायन तथा पतंजलि-जैसे विशिष्ट वैयाकरणों ने सैद्धांतिक गवेषणाएं प्रस्तुत कर दी थीं। इस प्रकार जैन वैयाकरणों के समक्ष पाणिनि की अनुपलब्धियां और अभाव पूर्तियां भी वर्तमान थीं। फलतः जैन आचार्यों ने उन

सारी सामग्रियों का उपयोग कर अपने शब्दानुशासनों को पूर्ण एवं समयानुकूल बनाया।

१४. पाणिनीय तन्त्रकारों ने शब्दों का अनुशासन करते समय प्रत्ययों, आदेशों तथा आगम आदि में जो अनुबन्ध लगाये हैं, उनका सम्बन्ध वैदिक स्वर प्रक्रिया के साथ भी जुटाए रखा है जिसके कारण श्रेण्य संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासन को समझने में क्लेश आ जाता है। जैन वैयाकरणों ने उन्हीं अनुबन्धों को ग्रहीत किया है, जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध होता है। अतः स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्र में भले ही साथ-ही-साथ वैदिक भाषा का भी अनुशासन होता गया, किंतु श्रेण्य संस्कृत का सुबोध अनुशासन जैन वैयाकरणों द्वारा ही हुआ।

१५. जैनाचार्यों ने समयानुसारिणी अनुशासन व्यवस्था को अपनाया, फलतः उनके नियमों में सरलता, संक्षिप्तता और वैज्ञानिकता विद्यमान है।

१६. संस्कृत भाषा के अनुशासन के साथ प्राकृत भाषा का अनुशासक भी लिखा गया।

१७. वाक्य-विचार, रूप-विचार, सम्बन्ध तत्त्व और अर्थ तत्त्व का विश्लेषण, ध्वनितत्त्व, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, वर्णागम, वर्णलोप, वर्ण-विपर्यय, अपिश्रुति, स्वरभक्ति समीकरण एवं विषमीकरण सम्बन्धी भाषा-विज्ञान के नियमों का प्रतिपादन।

१८. शब्द के कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व की मौलिक उद्भावनाएं।

१९, भाषा के विशाल और विराट् भंडार का दर्शन।

२०. पुरातन और नूतन नियमों का समन्वय।

२१. प्राचीन गणपाठ, शिक्षासूत्र, परिभाषाओं एवं सूत्रपाठ की परम्पराओं का संरक्षण।

संदर्भ-तालिका

१. बोपदेव द्वारा विरचित मुग्धबोध।

२. प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ के अन्तर्गत 'पाइय साहित्य का सिंहावलोकन' शीर्षक निबन्ध, पृ० ४१६ तथा 'पाइय भाषाओ अने साहित्य', पृ० ५५।

३. यशस्तिलक चम्पू की श्रुतसागर सूरि टीका में 'प्राकृत-व्याकरणा द्यनेक-शास्त्र रचना चंचुना' यह उल्लेख आया है तथा षट्पाहुड की संस्कृत टीका में प्राकृत सूत्रार्थ उद्धृत किये हैं।

४. देखें—जैनेन्द्र महावृत्ति की डॉ० वसुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित भूमिका, पृ० ७।

५. देखें—जैन साहित्य और इतिहास के अन्तर्गत 'देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण' शीर्षक निबन्ध, पृ० २७।

६. उपर्युक्त ग्रंथ पृ० २८-३०।

७. जैनेन्द्र महावृत्ति का 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके मिबन्ध', पृ० ४३, ४४ तथा 'स्ट्रक्चर ऑफ दि अष्टाध्यायी', भूमिका पृ० १३।

८. जैनेंद्र महावृत्ति प्रस्तावना भाग, पृ० ४७-४८।

९. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन् न्यासोरूरत्नक्षिति, श्रीमद्वृत्तिक पाट संपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीका मालमिहारूक्षुरचितं जैनेन्द्र शब्दागमं, प्रासादं पृथु पंचवस्तुकामिदं सोपानमारोहतात् ॥—अन्तिम पद्य।

१०. श्री पूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्र सच्छब्दलक्षण महं विनमामि वीरम् ॥
(मंगलाचरण चित्र चन्द्रिका) तथा नन्दि की प्रशंसा चुरादि धातुपाठ के अन्त में—'शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधि-गुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्यः' शब्द ब्रह्मा विशेषण देकर की गई है।

११. सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर— पैराग्राफ ३०।

१२. विशेष जानकारी के लिए देखें—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १६५-१६६।

१३.-१४. शाकटायनीय सूत्र के अन्तिम पद्य।

१५. हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालः मुनि स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धिनि यः प्रभावैः ॥
—श्रवणबेल्गोल का ५४ वां शिलालेख।

१६. देखें—पं० गुरुपद हालदार कृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' पृ० ४४८।

१७. अकारादिह सीमानं, वर्णाम्नाय वितन्वता।
ऋषभेणार्हताद्येन स्वनामाख्यातमादितः ॥
यत्रार्हपदसंदर्भाद् वर्णाम्नायः प्रतिष्ठितः।
तस्मै कौमारशब्दानुशासनाय नमोनमः ॥
ब्राह्मा कुमार्या प्रथमं सरस्वत्याप्यधितिष्ठितम्।
अर्हं पदं संस्मरन्त्या तत् कौमारमधीयते ॥
कुमार्या अपि भारत्या अंगन्यासेप्ययं क्रमः।
अकारादिह पर्यन्तस्ततः कौमारमित्यदः ॥
—कातन्त्र रूपमाला के अन्तिम श्लोक

१८. भावसेन त्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिना ।
कृतायां रूपमालायां कृदन्तः पर्यपूर्यत ।।
मन्दबुद्धि प्रबोधार्थी, भावसेनमुनीश्वरः ।
कातन्त्ररूपमालाख्यां, वृत्तिं व्यरश्चत्सुधीः ।।
—रूपमाला के अन्तिम पद्य ।

१६. देखें—प्रशस्ति संग्रह, पृ० १६६-२०० ।

जैन आयुर्वेद साहित्य : एक मूल्यांकन

•

राजेन्द्रप्रकाश आ० भटनागर

भारतीय संस्कृति में चिकित्सा का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित माना गया है, क्योंकि प्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रंथ 'चरक संहिता' में लिखा है—"न हि जीवितद्वानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते" (च० चि० अ० १, पा० ४, श्लो० ६१)। अर्थात् जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है। चिकित्सा से कहीं धर्म, कहीं अर्थ (धन), कहीं मैत्री, कहीं यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है, अतः चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती।

"क्वचिद्धर्मः क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यशः।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला॥"

अतएव प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशकों ने चिकित्सा द्वारा लोक-प्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध को 'भैषज्यगुरु' का विशेषण प्राप्त था। इसी भांति, जैन आचार्यों ने भी चिकित्साकार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्यनैमित्यिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धर्म के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है। अद्यावधि प्रचलित 'उपाश्रय' (उपासरा) प्रणाली में जहां जैन यति-मुनि सामान्य विद्याओं की शिक्षा धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओं का मार्गदर्शन करते रहे हैं, वहीं वे उपाश्रयों को चिकित्सा केंद्रों के रूप में समाज में प्रतिष्ठापित कराने में भी सफल हुए थे।

इस प्रकार सामान्यतया वैद्यकविद्या को सीखना और निःशुल्क समाज की सेवा करना जैन यति-मुनियों के दैनिक जीवन का अंग बन गया था, जिसका सफलतापूर्वक निर्वाह भी उन्होंने एलोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार-प्रसार पर्यन्त यथावत् किया है, परंतु इस नवीन चिकित्सा-प्रणाली के प्रसार से उनके इस लोकहितकर कार्य का प्रायः लोप होता जा रहा है।

यही कारण रहा कि जैन आचार्यों और यति-मुनियों द्वारा अनेक वैद्यक ग्रंथों

का प्रणयन होता रहा है। यह निश्चित है कि जैन विद्वानों द्वारा वैद्यक कर्म अंगीकार किये जाने पर चिकित्सा में निम्न दो प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित हुए—

१. अहिंसावादी जैनों ने शवच्छेदन प्रणाली और शल्यचिकित्सा को हिंसक कार्य मानकर चिकित्सा-कार्य से उन्हें अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप हमारा शारीर संबंधी ज्ञान शनैः-शनैः क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा का ह्रास हो गया। उनका यह पूर्णनिषेध भारतीय शल्यचिकित्सा की अवनति का एक महत्त्वपूर्ण कारण बना।

२. जहां एक ओर जैन विद्वानों ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहां दूसरी ओर उन्होंने रसयोगों (पारद से निर्मित व धातुयुक्त व भस्में) और सिद्धयोगों का बाहुल्येन उपयोग करना प्रारंभ किया। एस समय ऐसा आया जब सब रोगों की चिकित्सा सिद्धयोगों द्वारा ही की जाने लगी। जैसा कि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा में सब रोगों के लिए पेटेण्टयोग प्रयुक्त किये जा रहे हैं। नवीन सिद्धयोग और रसयोग भी प्रचलित हुए।

३. भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर रोग-निदान के लिए नाड़ी-परीक्षा, मूत्र-परीक्षा आदि को भी जैन वैद्यों ने प्रश्रय दिया। यह उनके द्वारा इन विषयों पर निर्मित अनेक ग्रंथों से ज्ञात होता है।

४. औषधि-चिकित्सा में मांस और मांसरस के योग जैन वैद्यों द्वारा निषिद्ध कर दिये गये। मद्यों (सुराओं) का प्रयोग भी वर्जित हो गया। मधु (शहद) का प्रयोग भी अहिंसात्मक धारणा के कारण उपयुक्त नहीं माना गया। 'कल्याणकारक' नामक जैन-वैद्यक ग्रंथ में तो मांस के निषेध की युक्ति-युक्त विवेचना की गई है।

५. इस प्रकार केवल वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित योगों का जैन-आयुर्वेदज्ञों द्वारा चिकित्सा-कार्य में विशेष रूप से प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य चिकित्सा जगत् में व्यवहार में परिलक्षित होता है।

६. सिद्धयोग चिकित्सा (स्वानुभूत विशिष्ट योगों द्वारा चिकित्सा) प्रचलित होने से जैन वैद्यक में त्रिदोषवाद और पंचभूतवाद के गंभीर तत्त्वों को समझने और उनका रोगों से व चिकित्सा से संबंध स्थापित करने की महान् और गूढ़ आयुर्वेद-प्रणाली का ह्रास होता गया और केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही अधिक विकसित होती गई।

७. जैन वैद्यक ग्रंथ अधिकांश में प्रादेशिक भाषाओं में रचित उपलब्ध होते हैं; फिर भी, संस्कृत में विरचित जैन वैद्यक ग्रंथों की संख्या न्यून नहीं है। अनेक जैन वैद्यों के चिकित्सा और योगों से संबंधित 'गुटके' (परम्परागत नुसखों के संग्रह, जिन्हें 'आम्नाय ग्रंथ' कहते हैं) भी मिलते हैं, जिनका अनुभूत प्रयोगावली के रूप में अवश्य ही बहुत महत्त्व है।

जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगों और साधनों द्वारा रोग-मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए परीक्षणोपरांत सफल सिद्ध हुए प्रयोगों व उपायों को उन्होंने लिपिवद्ध कर दिया। जैन धर्म के श्वेतांबर और दिगंबर—दोनों ही संप्रदायों के आचार्यों ने इस कार्य में महान् योगदान किया है।

८. जैनाचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धांतानुसार ही मुख्य रूप से चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे, रात्रि-भोजन-निषेध, मद्य-मधु-मांस का वर्जन आदि। अहिंसा का आपत्काल में भी पूर्ण विचार रखा है। इसका यही एकमात्र कारण है कि, मनुष्य जीवन का अंतिम लक्ष्य पारमार्थिक स्वास्थ्य प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना है।

९. शरीर को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और निरोग रखकर न केवल ऐहिक भोग (इन्द्रियसुख) भोगना ही अंतिम लक्ष्य नहीं है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के माध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों का प्रधान उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया है।

जैन विद्वानों द्वारा मुख्यतया निम्न संतलों पर वैद्यक ग्रंथों का प्रणयन हुआ।

१. जैन यति-मुनियों द्वारा ऐच्छिक रूप से ग्रंथ-प्रणयन।

२. जैन यति-मुनियों द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी श्रेष्ठी पुरुष की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रंथ-प्रणयन।

३. स्वतंत्र जैन विद्वानों और वैद्यों द्वारा ग्रंथ-प्रणयन।

जैन-वैद्यक ग्रंथों के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, उसके निम्न तीन पहलू हैं—

१. जैन विद्वानों द्वारा निर्मित वैद्यक साहित्य अधिकांश में मध्ययुग (ई० सन् सातवीं शती से उन्नीसवीं शती तक) में निर्मित हुआ है।

२. उपलब्ध संपूर्ण वैद्यक साहित्य से तुलना करें तो जैनों द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक तृतीयांश से भी अधिक है।

३. अधिकांश जैन वैद्यक ग्रंथों का प्रणयन पश्चिमी भारत के क्षेत्रों, जैसे पंजाब, राजस्थान, गुजरात, कच्छ, सौराष्ट्र और कर्णाटक में हुआ है। कुछ माने में, राजस्थान को इस संदर्भ में अग्रणी होने का गौरव व श्रेय प्राप्त है। राजस्थान में निर्मित अनेक जैन-वैद्यक ग्रंथों, जैसे वैद्यवल्लभ (हस्तिरुचि कृत), योगचिंतामणि (हर्षकीर्तिसूरि कृत) आदि का वैद्य जगत् में बाहुल्येन प्रचार-प्रसार रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानों और यति-मुनियों द्वारा चिकित्सा-कार्य और चिकित्सा-ग्रंथ प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर धर्मार्थ (निःशुल्क) चिकित्सालय व औषधशालाएं या पुण्यशालाएं

स्थापित कर भारतीय समाज को सहयोग प्राप्त होता रहा है। निश्चित ही, यह देन महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

जैन-आयुर्वेद—'प्राणावाय'

जैन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्र को 'प्राणावाय' कहते हैं। जैन तीर्थंकरों की वाणी को विषयानुसार स्थूल रूप से बारह भागों में बांटा गया है, इन्हें जैन आगम में 'द्वादशांग' कहते हैं। इनमें अंतिम अंग 'दृष्टिवाद' कहलाता है। दृष्टिवाद के पांच भेद हैं— पूर्व मत, सूत्र, प्रथमानुयोग, परिकर्म और चूलिका। पूर्व के पुनः चौदह प्रकार हैं। इनमें बारहवें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' है। कायचिकित्सा आदि आठ अंगों में संपूर्ण आयुर्वेद का प्रतिपादन, भूत-शांति के उपाय, विषचिकित्सा और प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीर धारण करने की दृष्टि से कर्म के विभाजन का जिसमें वर्णन हो, उसे 'प्राणावाय' कहते हैं।"

"कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः।
प्राणापानिविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्॥"
(तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १, सू० २०)

इस पूर्व में मनुष्य के आभ्यंतर-मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों जैसे यम-नियम, आहर-विहार और औषधियों का विवेचन है। साथ ही दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदध्वंसी रोगों की चिकित्सा विस्तार से विचार किया गया है।

'प्राणावाय' की परम्परा

दिगंबराचार्य उगादित्य ने अपने प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ 'कल्याणकारक' के प्रथम परिच्छेद के प्रारंभिक भाग में 'प्राणावाय' के इस भूलोक पर अवतरण और परंपरा का वर्णन किया है। भूलोक में मनुष्यों को रोगों से पीड़ित देखकर भरत चक्रवर्ती आदि मुख्य जनों ने आदिनाथ के समवसरण में उपस्थित होकर रोगरूपी दुःख से छुटकारा पाने के उपाय पूछे। तब भगवान आदिनाथ ने पुरुष, रोग, औषधि और काल —इस प्रकार समस्त वैद्यक ज्ञान को चार भागों में बांटते हुए, इन चारों वस्तुओं 'वस्तुचतुष्टय' के लक्षण, भेद-प्रभेद आदि संपूर्ण विषय को संक्षेप से वर्णन किया। इस प्रकार इस ज्ञान को प्रथम गणधरों और प्रति गणधरों ने प्राप्त किया; उनसे श्रुतिकेवलियों ने और उनसे, बाद में, अन्य मुनियों ने क्रमशः प्राप्त किया।

इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' नामक ग्रंथ की रचना की।

'प्राणावाय' साहित्य

'प्राणावाय' संबंधी प्राचीन साहित्य वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। जो कुछ ग्रंथ मिलते हैं, वे बहुत बाद के हैं और उनमें प्राणावाय संज्ञक आगमांग का वर्णन नहीं मिलता। केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है, जो दक्षिण (कर्णाटक) में प्राप्त हुआ है, उसमें 'प्राणावाय' की परंपरा निर्दिष्ट है। वह ग्रंथ भी बहुत प्राचीन (ई० आठवीं शती) है। उसका नाम 'कल्याणकारक' है। वह संस्कृत पद्यों में रचा गया है और रचनाकार का नाम आचार्य उग्रादित्य है।

उग्रादित्य ने कल्याणकारक के लिए आधारभूत कतिपय ग्रंथों और उनके ग्रंथकारों का नामतः परिगणन कराया है। परंतु ये सभी ग्रंथ अब अनुपलब्ध हैं। वास्तव में ये बहुत प्राचीन थे और प्राणावाय के मुख्य प्रतिपादक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आयुर्वेद के आठ अंगों पर उस समय प्राणावाय-परंपरा के अंतर्गत पृथक्-पृथक् अंग की विशिष्ट कृतियां निर्मित हो चुकी थीं। जैसे, उग्रादित्य के अनुसार-- "**पूज्यपाद** ने शालाक्य संबंधी, **पात्र स्वामी** ने शल्यतंत्र पर, **सिद्धसेन** ने विष और उग्र ग्रह शमन-विधि पर, **दशरथ गुरु** ने कायचिकित्सा पर, **मेघनाद** ने बाल-रोगों पर और **सिंहनाद** ने रसायन व बलवर्धक द्रव्यों (वाजीकरण) पर ग्रंथ-रचना की थी।"[1]

आयुर्वेद में भी इसी प्रकार पृथक्-पृथक् अंग पर विभिन्न तंत्रग्रंथों के प्रणयन का उल्लेख मिलता है, जो उपर्युक्त प्राणावाय-साहित्य परंपरा के समान ही था।

बाद में समंतभद्र ने आठों अंगों की विषय सामग्री को एकत्र और सुनिबंधित कर अष्टांग आयुर्वेद संबंधी किसी महान् ग्रंथ की रचना की। यही प्राणावाय के अध्ययन-अध्यापन के लिए मध्ययुग में एक मुख्य स्रोत बना रहा हो, क्योंकि उग्रादित्य ने अपने गुरु श्री नंदी से इसी का अध्ययन कर इसी के आधार पर संक्षेप से 'कल्याणकारक' नामक ग्रंथ की रचना की थी। समंतभद्र की वह महत्त्वपूर्ण रचना अब अनुपलब्ध है।[2]

आयुर्वेद में भी समंतभद्र जैसा ही कार्य वाग्भट ने 'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टांग-हृदय' नामक ग्रंथों की रचना करके किया था। वाग्भट ने आठ अंगों के विभिन्न

---

१. "शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रस्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः। काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ॥"

(क० का०, प० २०, श्लोक ८५)

२. "अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरमथो विभवैः विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥"

(क० का०, प० २०, श्लो० ८६)

तंत्रग्रंथों से उपयोगी सामग्री एकत्रित कर अष्टांगपरक इन दो ग्रंथों की रचना की थी।

'प्राणावाय' की परम्परा उग्रादित्य के बाद किस प्रकार चलती रही, यह अब ज्ञात नहीं है। क्योंकि बाद के किसी ग्रंथ में प्राणावाय की परम्परा का दिग्दर्शन मात्र भी नहीं मिलता। फिर भी वैद्यक संबंधी ग्रंथ-रचना प्रचुर मात्रा में होती है और जैन विद्वानों व यति-मुनियों ने इसमें अपूर्व योगदान किया। फिर भी इसका उद्देश्य चिकित्सा-कार्य था, न कि प्राणावाय साहित्य का समुपबृंहण करना। इन ग्रंथों में प्रतिपादित विषय आयुर्वेद को सर्वसामान्य व प्रचलित सिद्धांत और चिकित्सा प्रयोग ही है। प्राणावाय संबंधी जो वैशिष्ट्य और भिन्नता 'कल्याण-कारक' में देखने को मिलती है, वह इन परवर्ती जैन-वैद्यक-ग्रंथों में परिलक्षित नहीं होती। अत: इन्हें 'प्राणावाय' की संपूर्ति करने से ग्रंथ नहीं कहा जा सकता।

जैन वैद्यक-ग्रंथ

जैसाकि मैंने ऊपर संकेत किया है, जैन 'प्राणावाय' संबंधी साहित्य बहुत प्राचीनकाल से ही निर्मित होने लग गया था। संभवत: ईसवीय प्रथम शताब्दी या उससे कुछ समय पूर्व से ही इस तथ्य के संकेत मिलते हैं। परंतु उत्तरी भारत से इन ग्रंथों का सर्वथा लोप हो गया और दक्षिण में वे प्रचलित रहे। इसके मुख्य कारण यही हो सकते हैं कि उत्तरी भारत को वाह्य विदेशी आक्रमणों से अनेक वार निरंतर पदाक्रांत होना पड़ा और हिंसा व क्रोध की अग्नि में अनेक ग्रंथरत्न भस्मीभूत कर डाले गये, प्राचीन वैज्ञानिक और साहित्यिक परम्पराओं का लोप हो गया तथा अनेक विद्वानों को या तो हिमालय के दुर्गम व बीहड़ क्षेत्रों में अथवा दक्षिण के सुदूर प्रांतों में शरण लेनी पड़ी। अत: वे अपना साहित्य, विज्ञान और कला के मूलाधारों को भी अपने साथ ले गये। जो छोड़ गये, वे नष्ट हो गये। इस विनाश की शृंखला में स्वाभाविक है कि प्राणावाय संबंधी विद्वानों, उनके ग्रंथों और परम्पराओं को दक्षिण में आश्रय प्राप्त करना पड़ा। यही कारण है कि प्राचीनतम जैन वैद्यक-साहित्य दक्षिण में मिलता है और वहां प्राणावाय की परम्परा पर्याप्त समय तक निरंतर रहने के संकेत भी प्राप्त होते हैं जबकि उत्तरी भारत में यह लुप्त हो गई थी।

उत्तरी भारतीय क्षेत्रों से जैन 'प्राणावाय' के हटने का एक कारण यह भी हो सकता है कि शैवों और शाक्तों के बढ़ते प्रभाव में मद्य-मांस के प्रयोग को खूब प्रचारित किया, जिसका 'प्राणावाय' में निषेध है। साथ ही, जैनों को भी वहां से पश्चिमी, और सुदूर दक्षिणी क्षेत्रों में हटना पड़ा। अस्तु।

प्राचीन संदर्भों के आधार पर ज्ञात होता है कि प्राणावाय के समंतभद्र (ई० दूसरी शती) और पूज्यपाद (पांचवीं शती) आदि प्रतिष्ठित आचार्य थे। परंतु इनके

ग्रंथ अप्राप्य हैं। समंतभद्र के अष्टांग विषयक ग्रंथ का उग्रादित्य ने उल्लेख किया है। पूज्यपाद का वैद्यक-ग्रंथ संभवतः 'पूज्यपादीय' कहलाता था। कल्याणकारक व वसवराजीय में पूज्यपाद के अनेक योगों का उल्लेख है। आठवीं शती के अंतिम चरण में उग्रादित्य ने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (ई० ७६४ से ७९९) के शासनकाल में 'रामगिरि' (विजगापटम जिले के अंतर्गत रामतीर्थ नामक पर्वतीय स्थान) में रहते हुए 'कल्याणकारक' की रचना की थी। यहीं पर उग्रादित्य के गुरु श्रीनंदी को राजा द्वारा सम्मान व आश्रय प्राप्त था। इस काल में रामगिरि एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ (जो पहले बौद्ध तीर्थ था) बन चुका था। विष्णुवर्धन की मृत्यु के बाद चालुकों के पतनकाल में उग्रादित्य को प्रतापी राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (ई० ८१५ से ८७७) की राजसभा में उपस्थित होना पड़ा। यहीं उन्होंने मांस-भक्षण-निषेध पर विस्तृत व्याख्यान दिया। बाद में, इस विवेचन को 'हिताहित' अध्याय के नाम से कल्पाककारक के परिशिष्ट के रूप में उग्रादित्य ने सम्मिलित कर दिया है। यहां अमोघवर्ष को 'नृपतुंग' कहा गया है, जो उसकी एक प्रधान उपाधि थी और वह केवल इसी नाम से प्रसिद्ध था। यह सम्राट् भी दिगंबर जैनानुयायी था। 'कल्याणकारक' अपनी श्रेणी का एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसमें स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय बताते हुए चिकित्सा के आठों अंगों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। प्राणावाय-परंपरा का यही एकमात्र उपलब्ध ग्रंथ है। अतः इसका बहुत महत्त्व है। इसमें मांस, मद्य और मधु का कहीं प्रयोग नहीं दिया गया है। सभी योग वानस्पतिक और खनिज हैं। निदान और चिकित्सा की इसकी विशिष्ट शैली है, जो अन्य आयुर्वेदीय ग्रंथों में प्रायः देखने को नहीं मिलती।

इसी परंपरा में गुप्तदेवमुनि ने 'मेरुतुंग' ग्रंथ की रचना की थी। अमृतनंदी ने जैन पारिभाषिक वैद्यक शब्दों का एक वैद्यक निघंटु रचा था, जिसमें २२ हज़ार शब्द हैं, जिनका जैन सिद्धांतानुसार पारिभाषिक अर्थ दिया है। परवर्ती काल में देशीय भाषाओं में भी ग्रंथ रचे गये। कन्नड के ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—जैसे चालुक्य राजा **कीर्तिवर्मा** ने ११२५ ई० में कन्नड़ भाषा में पशु-चिकित्सा पर 'गोवैद्यक', जगछल सामन्त **सोमनाथ** ने ११५० ई० में पूज्यपाद के ग्रंथ का 'कर्नाटक कल्याणकारक' नाम से कन्नड़ी अनुवाद, **अभिनवचंद्र** ने १४०० ई० में 'अश्ववैद्यक' कन्नडी भाषा में लिखे। विजयनगर के हिन्दु साम्राज्य के अंतर्गत भी अनेक जैन वैद्यक-ग्रंथ रचे गये थे। हरिहरराज बुक्क के समय में वि० सं० १४१६ (१३६० ई०) में **मंगराज** नामक कानडी कवि ने 'खगेंद्रमणिदर्पण' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें स्थावरविषों और उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। ई० १५०० में श्रीधरदेव ने 'वैद्यामृत' की, १५०० ई० बाचरस ने 'अश्ववैद्यक' की और १६२७ ई० में मैसूर-नरेश चामराज के आदेश से पद्मणपंडित

(पद्मरस) ने 'हयरत्नसमुच्चय' की रचना की थी।

उत्तरी भारत में अवश्य ही जैन वैद्यक के विद्वानों की परंपरा बहुत प्राचीन रही होगी, परंतु उनके ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। सर्वप्रथम हमें मालवा के पं० आशाधर, जो मूलत: मांडलगढ़ (जिला भीलवाडा, राजस्थान) के निवासी थे और ११९३ ई० में अजमेर राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने से धारानगरी में जाकर रहने लगे थे, ने 'अष्टांगहृदय' पर 'उद्योत' या 'अष्टांगहृदयोद्योतिनी' नामक संस्कृत टीका लिखी थी। अब वह अप्राप्य है। आशाधर बघेरवालवंशीय जैन वैश्य थे। उन्होने यह टीका १२४० ई० के लगभग लिखी थी।

गुणाकरसूरि ने १२३९ ई० (वि० सं० १२९६) में नागार्जुनकृत 'आश्चर्य-योगमाला' पर संस्कृत में 'वृत्ति' लिखी थी।

इनके पूर्व पादलिप्ताचार्य और नागार्जुन गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र में हो चुके थे। उनका निवास-स्थान 'ढंकगिरि' माना जाता है। ये दोनों ही तीसरी-चौथी शताब्दी में जीवित थे और रसविद्या के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं।

हमें किसी प्राकृत या अपभ्रंश में लिखे हुए वैद्यक ग्रंथ का पता नहीं चला है। परवर्ती अपभ्रंश और राजस्थानी, प्राचीन हिन्दी, ब्रज, गुजराती और कन्नड़ भाषा में अवश्य ग्रंथ रचे गये थे। यह साहित्य ई० १६वीं शती से पूर्व का उपलब्ध नहीं होता। प्रादेशीय भाषा के ग्रंथ प्राय: मौलिक, भाषानुवाद, टीका और गुटकों के रूप में गद्य-संग्रह के रूप में मिलते हैं। १६वीं शती के बाद कुछ संस्कृत रचनाएं भी निर्मित हुईं। परंतु ये अधिकांश संग्रह-ग्रंथ हैं। वि० सं० १६६६ से पूर्व नाग-पुरीय तपागच्छीय चंद्रकीर्ति सूरि के शिष्य **हर्षकीर्तिसूरि** ने **'योगचिंतामणि'** (अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार', 'वैद्यकसारसंग्रह') की रचना की थी। रा० प्रा० वि० प्र० जोधपुर ने इसकी वि० १६६६ की लिपिकालवाली एक प्रति मैंने देखी है। अत: इसका रचनाकाल इससे पूर्व का होना ज्ञात होता है। इसमें पाक, चूर्ण, गुटी, क्वाथ, घृत, तैल और मिश्रक अध्यायों के अंतर्गत योगों का संग्रह किया गया है। इसमें फिरंग, चोपचीनी, पारद और अफीम का उल्लेख है। अत: जॉली ने भी इसका यही काल माना है। **हंसराजकृत** 'भिषक्चक्रचित्तोत्सव' (हंसराजनिदानम्) रोगों के निदान संबंधी ग्रंथ है। यह भी १७वीं शती की रचना है।

वि० सं० १७२६ में तपागच्छीय **हस्तिरुचिगणि** (उदयरुचिगणि के शिष्य) ने 'वैद्यवैल्लभ' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें संक्षेप में रोगों के निदान-लक्षण के साथ चिकित्सा का भी वर्णन हुआ है। इसमें ज्वर, स्त्री-रोग, कासक्षयादि रोग, धातु रोग, अतिसारादि रोग, कुष्ठादि रोग, शिराकर्णाक्षि रोग के प्रतिकार और स्तभन पर मुरासाहि गुटिका आदि---ये आठ अध्याय हैं। यह ग्रंथ वैद्य-समाज में बहुत लोकप्रिय रहा है। सं० १७२९ में मेघभट्ट नामक विद्वान् ने इस पर संस्कृत टीका लिखी थी। इसका पद्यानुमय राजस्थानी अनुवाद भी हुआ है।

राजस्थान और गुजरात की वैद्य परंपराओं में हर्षकीर्ति के 'योगचिंतामणि' और हस्तिरुचि के 'वैद्यवल्लभ' का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार रहा है। वि० सं० १७०६ में महेंद्र जैन (कृष्ण वैद्य का पुत्र) ने धन्वन्तरिनिघंटु के आधार पर 'द्रव्यावली-समुच्चय' ग्रंथ रचा। खरतगच्छीय **विनयमेरुगणि** (यह वाचक सुमतिसुमेरु के भ्रातृपाठक थे और मानमुनि के गुरु थे) ने 'विद्वन्मुखमंडनसारसंग्रह' नामक चिकित्सा ग्रंथ वि० १८वीं शती के प्रथम चरण में लिखा था। इसी प्रकार इसी शती में बीकानेर-निवासी तथा धर्मशील के शिष्य **रामलाल उपाध्याय** ने 'राम-निदानम्' या 'रामऋद्धिसार' नामक निदान संबंधी ग्रंथ लिखा था। वि० १८वीं शती के अंतिम चरण में खरतरगच्छीय **दीपकचंद्र वाचक** ने जयपुर के महाराजा जयसिंह के काल में जयपुर में ही सं० १७९२ में 'पथ्यलंघननिर्णय' (पथ्यापथ्य-निर्णय, लंघनपथ्यविचार, लंघनपथ्यनिर्णय) नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें रोगों में किये जाने वाले लंघन (अनाहार) और पथ्यापथ्य का विस्तार से विचार किया गया है। इस ग्रंथ को पुनः वि० सं० १८८५ में शंकर नामक विप्र ने संशोधित किया था। गुजरात के कवि **विश्राम** ने वि० सं० १८३९ में 'व्याधिनिग्रह' और सं० १८४२ में 'अनुपानमंजरी' नामक ग्रंथों की संस्कृत में रचना की थी। प्रथम ग्रंथ में व्याधियों (रोगों) के उपचारार्थ संक्षिप्त योगों व प्रयोगों का तथा द्वितीय ग्रंथ में धातु, उपधातु स्थावरविष, जंगमविष के शांति के उपाय, धातु-उपधातु मारणविधि और रोगों के विविध अनुपान बताये गये हैं। ये दोनों ही ग्रंथ बहुत उपयोगी हैं और इनका प्रकाशन आवश्यक है। कवि विश्राम के गुरु का नाम जीव और निवासस्थान अंजार (कच्छ) था। यह आगमसंज्ञक गच्छ के यति थे।

इन संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त राजस्थानी, गुजराती और ब्रज व प्राचीन हिंदी में भी अनेक ग्रंथ मिलते हैं। नयनसुख (केसराज का पुत्र श्रावक) ने **वैद्यमनोत्सव** (वि० सं० १६४९ चिकित्सा संबंधी ग्रंथ); **नर्बुदाचार्य या नर्मदा-चार्य** ने '**कोककला चौपई**' (सं० १६५६, कामशास्त्रविषयक ग्रंथ); लक्ष्मीकुशल ने 'वैद्यकसाररत्नप्रकाश चौपई' (सं० १६९४); **नयनशेखर** ने 'योगरत्नाकर चौपई' (सं० १७३६); खरतरगच्छीययति **रामचंद्र** ने 'रामविनोद' (सं० १७२० तथा 'वैद्यविनोद' (सं० १७२६); जिनसमुद्र सूरि ने '**वैद्यचिंतामणि**' या 'वैद्यक-सारोद्धार' या 'समुद्रसिद्धांत' या 'समुद्रप्रकाशसिद्धांत' (सं० १७३०-४० के लगभग); धर्मसी (धर्मवर्द्धन या धर्मसिंह) ने सं० १७४० में 'डंभक्रिया'; **लक्ष्मीवल्लभ** ने कालज्ञान (शंभुनाथकृत संस्कृत के कालज्ञान का पद्यमय भाषानु-वाद, सं० १७४१) और मूत्रपरीक्षा (सं० १७४५ के लगभग); **मुनि मान** ने 'कविविनोद' (सं० १७४५) और कविप्रमोद (सं० १७४६); **साहिब ने** 'संग्रहणी-विचार चौपई' (सं० १६७५); **पीतांबर** ने 'आयुर्वेदसारसंग्रह' (सं० १७५९);

जोगीदास (दासकवि) ने बीकानेर में 'वैद्यकसार' (सं० १७६२); **समरथ** ने 'रसमंजरी भाषाटीका' (सं० १७५५); **दीपकचंद्र वाचक** ने 'बालतंत्र भाषा वचनिका' (सं० १७६० के आसपास); **चैनसुखयति** ने बोपदेव की 'सतश्लोकी भाषाटीका' (सं० १८२०); **मलूकचंद** ने 'तिब्ब सहाबी' नामक यूनानी चिकित्सा-ग्रंथ का पद्यमय भाषानुवाद 'वैद्यहुलास' (उन्नीसवीं शती), **ज्ञानसार** ने कामशास्त्र पर 'कामोद्दीपन ग्रंथ' (सं० १८५६); **लक्ष्मीचंद्र** ने 'लक्ष्मीप्रकाश' (सं० १६३७) नामक ग्रंथों की रचना की थी।

पंजाब में भी **मेघमुनि** ने सं० १८१८ में निदानचिकित्सा विषयक **'मेघविनोद'** की और गंगाराम ने सं० १८७८ में महाराजा रणजीतसिंह के काल में रोगनिदान संबंधी 'गंगयति निदान' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया था। ये दोनों ही ग्रंथ प्राचीन हिंदी में दोहा, चौपाई आदि छंदों में लिखे हुए हैं।

जैन विद्वानों द्वारा विरचित वैद्यक ग्रंथों के इस सर्वेक्षण से उनके एतत्संबंधी साहित्य की विपुलता का सहज ही आभास मिल जाता है। वास्तव में, इन ग्रंथों की उपयोगिता और व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए इनके प्रकाशन की नितांत आवश्यकता है। इस निबंध के लेखक ने इनमें से कुछ ग्रंथों की प्रकाशनार्थ तैयार प्रतिलिपियां व टिप्पणियां भी तैयार कर ली हैं। भविष्य में उनके क्रमशः प्रकाशन का विचार है। आशा है, मेरे इस लघु विज्ञापन पर ध्यानाकर्षण करते हुए अन्य विद्वान् भी इस ओर आकृष्ट होंगे।

आचार्य हेमचन्द्र और उनका काव्यानुशासन

डॉ० मूलचन्द्र पाठक

आचार्य हेमचंद्र सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी एक युगप्रवर्त्तक महापुरुष थे। जैन धर्म और जैन विद्याओं के तो वे एक महान् आचार्य व प्रकांड पंडित थे ही, ब्राह्मणों के कहे जाने वाले शास्त्रों व विद्याओं में भी वे पारंगत थे। अगाध, व्यापक व सर्वतोगामी पांडित्य के साथ-साथ वे उच्चकोटि के कवि भी थे। उनका द्वयाश्रय काव्य उनके सहृदयत्व व शास्त्रीय वैदुष्य का मणिकांचन योग प्रस्तुत करता है। उद्भट विद्वान् व सहृदय कवि होने के साथ ही आचार्य हेमचन्द्र एक उदारमना सन्त, प्रगतिशील समाजसुधारक, उत्साही धर्मप्रचारक एवं प्रभावशाली उपदेशक भी थे। गुजरात प्रांत में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में उनका योगदान किसी भी अन्य आचार्य से अधिक रहा। गुजरात के तत्कालीन शासक सिद्धराज जयसिंह व कुमारपाल उनका अत्यधिक सम्मान करते थे। यहां तक कि कुमारपाल उनके व्यक्तिगत संपर्क व उपदेशों के प्रभाव से जैन धर्म का अनुयायी हो गया था। गुजरात के समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन पर हेमचन्द्र का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गुजरात में विद्यानुशीलन, शास्त्राभ्यास व साहित्य-साधना का एक उच्चस्तरीय वातावरण बनाने में अपूर्व योगदान किया। उनके पहले का गुजरात पांडित्य व साहित्यसर्जना के क्षेत्र में भारत के इतर प्रांतों से पिछड़ा हुआ था। हेमचंद्र ने अपने युग में प्रचलित प्राय: सभी प्रधान शास्त्रों का मंथन कर स्वयं विविध विषयों पर सरल व सुबोध शैली में अनेक विश्वकोषात्मक ग्रंथों की रचना की तथा विद्वान् व कर्मठ शिष्यों की मंडली तैयार करके गुजरात में संस्कृत-साहित्य—विशेष रूप से शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन व प्रणयन की एक सशक्त परंपरा का सूत्रपात किया।

सौभाग्य से इस महान् आचार्य, सन्त, साहित्यप्रणेता व धर्मोपदेशक की जीवन विषयक सामग्री अनेक समकालीन व परवर्ती ग्रंथों में सुलभ है। इन ग्रंथों में सोमप्रभसूरिरचित कुमारपालप्रतिबोध (संवत् १२४१), प्रभाचंद्रसूरिकृत प्रभावक-

चरित (सं० १२७८), मेरुतुंगकृत 'प्रबंधचिन्तामणि (सं० १३६२), राजशेखर-कृत 'प्रबन्धकोश' (सं० १४०५), जिनमंडनकृत 'कुमारपालप्रतिबोध (सं० १४६२), यशपालरचित मोहराजपराजय नाटक (१३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) एवं पुरातन प्रबंधसंग्रह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्वयं हेमचंद्र का द्वयाश्रयकाव्य, सिद्धहेमप्रशस्ति तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुष में अन्तर्भूत 'महावीर चरित' आदि भी उनके जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ब्यूहलर ने उक्त स्रोतों में से अनेक का उपयोग करते हुए हेमचन्द्र के जीवन व कृतित्व पर एक विस्तृत निबन्ध लिखा है।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम संवत् ११४५ (१०८८ ई०) में गुजरात प्रांत के अन्तर्गत 'धंधुका' नामक ग्राम के एक वैश्यपरिवार में हुआ। उनके पिता का नाम चच्च अथवा चाचिग तथा माता का नाम पाहिणी था। हेमचन्द्र का बचपन का नाम 'चंगदेव' था। पूर्णतलगच्छ के श्री देवचन्द्रसूरि के प्रभाव से चंगदेव आठ वर्ष की अवस्था में श्रमण-धर्म में दीक्षित हुए। २२ वर्ष की आयु (११०६ ई०) में आचार्य सूचक 'सूरि' पद प्राप्त होने पर वे हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र के जीवनकाल में सिद्धराज जयसिंह (१०६३-११४३ ई०) तथा महाराज कुमारपाल (११४३-११७४ ई०) गुजरात के शासक थे। सिद्धराज के साथ आचार्य का प्रथम परिचय संभवतः ११३६ ई० में हुआ जबकि सिद्धराज की मालवा-विजय के उपलक्ष्य में आयोजित एक समारोह में हेमचंद्र ने उनकी प्रशस्ति में एक सुन्दर श्लोक सुनाया।[1] धीरे-धीरे दोनों का परिचय प्रगाढ़ मैत्री व पारस्परिक समादर में विकसित हुआ। सिद्धराज के अनुरोध पर हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' नामक संस्कृत व्याकरण-ग्रंथ की रचना की। सिद्धराज के पश्चात् कुमारपाल गुजरात के शासक बने। उनके शासनकाल में हेमचन्द्र के सम्मान और प्रभाव में और वृद्धि हुई। कुमारपाल के अनुरोध पर हेमचन्द्र ने योगशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना की। लगभग पचास वर्षों तक गुजरात के धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक व राजनीतिक जीवन पर छाये रहकर सन् ११७३ ई० में ८४ वर्ष की आयु में, महाराज कुमारपाल की मृत्यु के कुछ ही पूर्व, आचार्य हेमचन्द्र दिवंगत हुए।

हेमचन्द्रप्रणीत साहित्य परिमाण में विशाल व विषयवस्तु की दृष्टि से विविधता-सम्पन्न है तथा उनकी 'कलिकालसर्वज्ञ' उपाधि को चरितार्थ करता है। निम्नलिखित ग्रंथ प्रामाणिकरूप से हेमचन्द्ररचित माने जाते हैं—(१) सिद्धहेम-शब्दानुशासन, (२) योगशास्त्र, (३) कुमारपाल चरित या द्वयाश्रय काव्य, (४) छन्दोऽनुशासन, (५) काव्यानुशासन, (६) कोषग्रंथ— अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थ-शब्दसंग्रह, निघंटु तथा देशीनाममाला, (७) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, (८) वीतरागस्तुति (९) द्वात्रिंशिका तथा (१०) प्रमाण मीमांसा। इनमें से अनेक पर

हेमचन्द्र ने संक्षिप्त या विस्तृत वृत्तियां व टीकाएं भी लिखी हैं। यह समग्र वाङ्मय उनकी बहुमुखी प्रज्ञा एवं सर्वग्राहिणी विद्वत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

'काव्यानुशासन' आचार्य हेमचन्द्र की अलंकारशास्त्र विषयक एकमात्र कृति है। जैन आचार्यों ने अलंकारशास्त्र पर जो ग्रंथ लिखे हैं उनमें यह कृति प्रमुख कही जा सकती है। यह अलंकारशास्त्र के इतिहास के उस युग की देन है जब रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि विभिन्न सिद्धांतों का पूर्ण विकास व विवेचन हो चुका था तथा स्वतंत्र व मौलिक काव्य-चिंतन की परंपरा लगभग समाप्त हो चुकी थी। आनंदवर्धन ने ध्वनिसिद्धांत के रूप में काव्य का एक ऐसा सर्वांगीण सिद्धांत प्रस्तुत किया था जिसमें अलंकार, गुण, दोष, रीति, रस आदि विभिन्न तत्त्व काव्य की एक संपूर्ण अवधारणा में परस्पर अंगागिभाव से संतुलित व समन्वित हो गये थे। यद्यपि कुन्तक व महिमभट्ट ने आनंदवर्धन के उक्त प्रयास को चुनौती दी थी पर ध्वनिवादी काव्य-दृष्टि इतने व्यापक, गंभीर व सुदृढ़ चिंतन पर आधारित थी कि यह चुनौती निरर्थक ही सिद्ध हुई। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि के रहे-सहे विरोध को भी अपने अकाट्य तर्कों द्वारा इस तरह निरस्त कर दिया कि फिर आगे उसे सिर उठाने का साहस नहीं हुआ। ध्वनिवाद की इस अकाट्य स्थापना व सर्वमान्यता का एक परिणाम यह हुआ कि अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में मौलिक चिंतन व स्वतंत्र उद्भावनाओं का युग समाप्त-सा हो गया तथा आलंकारिकों का एकमात्र कार्य यह रह गया कि वे ध्वनिवाद की समन्वयवादी दृष्टि के अनुसार काव्य के स्वरूप व विभिन्न तत्त्वों का एकत्र परिचय देने वाले संग्रह ग्रंथ या पाठ्यपुस्तकों का प्रणयन करें। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास मम्मट (११वीं सदी का उत्तरार्द्ध) ने किया तथा उन्हें इस कार्य में इतनी सफलता मिली कि अलंकारशास्त्र के परवर्ती लेखकों ने उनके द्वारा प्रदर्शित सरणि के अनुगमन में ही अपनी कृतार्थता मानी। यहां तक कि मम्मट के विरोध का बीड़ा उठाकर चलनेवाले विश्वनाथ को भी अन्ततः उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलना पड़ा। कुछ लेखकों ने अलंकारशास्त्र के प्राचीन संप्रदायों के अनुगमन का प्रयत्न किया पर उनकी संख्या नगण्य ही रही। सामान्य प्रवृत्ति काव्य की ध्वनिवादी संकल्पना को स्वीकार करने की ही रही। आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन अलंकारशास्त्र के उपसंहारकाल की इसी सामान्यप्रवृत्ति का परिचायक है। निश्चय ही उनका ध्येय किसी नूतन काव्यसिद्धांत का प्रतिपादन नहीं था। उनके समक्ष अलंकारशास्त्र की एक समृद्ध व प्रौढ परंपरा थी जिसमें मौलिक योगदान के लिए बहुत कम अवकाश रह गया था। उनका उद्देश्य तो अलंकारशास्त्र की उक्त परंपरा को जो बहुत-कुछ रूढिबद्ध व स्थिर हो चुकी थी, सरल व सुग्राह्य शैली में पुनर्निबद्ध कर इस विषय के प्रारंभिक व प्रौढ उभयविध अध्येताओं की सहायता करना था। इसमें संदेह नहीं कि यह कार्य उन्होंने बड़ी योग्यता व कुशलता के साथ किया।

'काव्यानुशासन' आठ अध्यायों में विभक्त है जिनमें काव्य के सभी मान्य तत्त्वों व भेद-प्रभेदों का विवेचन कर दिया गया है। मूलग्रंथ में तीन प्रकार के अंश हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। सूत्रों की कुल संख्या २०८ है जिनका अध्यायवार वितरण इस प्रकार है—प्रथम अध्याय में २५, द्वितीय में ५९, तृतीय में १०, चतुर्थ में ९, पंचम में ९, षष्ठ में ३१, सप्तम में ५२ और अष्टम में १३। इन सूत्रों की व्याख्या 'अलंकारचूडामणि' नामक एक स्वोपज्ञ कृति में की गई है। वृत्ति में ही उदाहरण दिये गए हैं जिनकी संख्या ८०७ है। सूत्र व वृत्ति दोनों पर हेमचन्द्र ने 'विवेक' नाम की एक विस्तृत टीका भी प्रस्तुत की है।[२] 'विवेक' में ग्रंथकार ने विषय के प्रौढ़ विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध प्रभूत सामग्री अन्य ग्रंथों से संकलित की है। अन्य ग्रंथकारों के मत प्रायः मूल रूप में उद्धृत किये गए हैं। इसमें लगभग ८८५ उद्धरणों व उदाहरणों का समावेश है। वृत्ति व विवेक दोनों में मिलाकर हेमचन्द्र ने लगभव ५० ग्रंथकारों व ८१ ग्रंथों का नामतः उल्लेख किया है। अन्य बहुत से संदर्भ ग्रंथ या ग्रंथकार के नामोल्लेख के विना ही दिए गए हैं। अलंकारशास्त्र व साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इस विपुल सामग्री का महत्त्व असंदिग्ध है।

'काव्यानुशासन' में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय—मंगलाचरण के पश्चात् हेमचन्द्र कहते हैं कि 'शब्दानुशासन' में हमने वाणी के साधुत्व का विवेचन किया और अब 'काव्यानुशासन' में उसी के काव्यत्व की उचित रीति से शिक्षा दी जा रही है—

शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः।
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते ॥१.२

तृतीय सूत्र में काव्य के प्रयोजनों को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—

काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च। १.३

अर्थात् काव्य का प्रयोजन आनन्द, यश और कान्ता के समान उपदेश प्रदान करना है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र हेतु स्वीकार किया है। उनके अनुसार व्युत्पत्ति व अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक मात्र हैं, काव्य के साक्षात् कारण नहीं—

प्रतिभास्य हेतुः।...व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या। १.४,७
अतएव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणं प्रतिभोपकारिणौ तुभवतः।
दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्यत्पत्त्यभ्यासौ।—१.७ की वृत्ति।

हेमचन्द्र ने काव्य का निम्न लक्षण दिया है—

अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। १.११

मम्मट के काव्यलक्षण से इसका भेद मुख्यतः 'सालंकारौ' पद से प्रकट हो रहा

है। 'च' द्वारा कहीं-कहीं निरंलकार शब्दार्थ में भी काव्य की स्थिति स्वीकार की गई है।

हेमचन्द्र ध्वनिवाद के अनुयायी हैं, अतः उन्होंने काव्यलक्षण में प्रयुक्त गुण, दोष व अलंकार के स्वरूप का निरूपण रसध्वनिवादी दृष्टिकोण से किया है, जैसे— रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषो, भक्त्या शब्दार्थयोः (१.१२) अंगाश्रिता अलंकाराः (१.१३)

इसी अध्याय में ग्रंथकार ने चतुर्विध शब्द—मुख्य, गौण, लक्षक व व्यंजक, उनके द्वारा प्रतिपादित मुख्यार्थ, गौणार्थ, लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ एवं अभिधा, गौणी, लक्षणा व व्यंजकत्व नामक चतुर्विध शब्दशक्तियों के स्वरूप का विवेचन किया है। व्यंग्यार्थ के त्रिविध रूप-वस्तु, अलंकार व रस, वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता, अर्थव्यंजकत्व के प्रकारों, शब्दशक्तिमूल व अर्थशक्तिमूल व्यंग्यार्थ के भेद-प्रभेदों तथा रसादि व्यंग्यार्थ के विविध रूपों का निरूपण भी इसी अध्याय में किया गया है।

द्वितीय अध्याय—इसमें सर्वप्रथम अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद केअनुसार रस का लक्षण किया गया है जो इस प्रकार है :

विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः। २.१

इस सूत्र की वृत्ति में हेमचन्द्र ने मम्मट के रसविवेचन की शब्दावली का निःसंकोच उपयोग किया है तथा 'विवेक' में अभिनवगुप्त की अभिनवभारती से भट्टलोल्लट आदि के मतों को अविकल रूप में उद्धृत किया है। रस-स्वरूप के निरूपण के पश्चात् इस अध्याय में शान्तरस सहित नवरसों के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव व संचारी भावों का विस्तार से विवरण दिया गया है। अनन्तर ३३ संचारी भावों व ८ सात्त्विक भावों का परिचय देकर ग्रंथकार ने रसाभास व भावाभास के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अध्याय के अन्त में काव्य के भेदों—उत्तम, मध्यम व अधम का निरूपण किया गया है। उल्लेखनीय है कि हेमचन्द्र ने मध्यम काव्य के तीन ही भेद माने हैं—(१) असत्प्राधान्य, (२) संदिग्धप्राधान्य तथा (३) तुल्यप्राधान्य, जबकि मम्मट ने उसके आठ भेदों का विवेचन किया है।

तृतीय अध्याय— इसमें क्रमशः रस तथा शब्द व अर्थ से संबंधित दोषों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय की 'अलंकारचूडामणि' व 'विवेक' में काव्य दोषों के उदाहरणों का वहुत बड़ी संख्या में संग्रह मिलता है।

चतुर्थ अध्याय—इसमें काव्यगुणों का विवेचन किया गया है। मम्मट के समान हेमचन्द्र भी माधुर्य, ओजस् व प्रसाद इन तीन ही गुणों को स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन गुणों का स्वरूप बतलाते हुए उनकी व्यंजक विशिष्ट वर्णयोजना पर प्रकाश डाला गया है। विवेचन का अधिकांश मम्मट के काव्य-प्रकाश पर आधारित है। इस अध्याय से संबंधित 'विवेक' में भारत, मंगल, दंडी,

वामन आदि अनेक आचार्यों के गुण-संबंधी विचारों का विस्तृत संकलन किया गया है।

पंचम अध्याय : इसमें छह शब्दालंकारों का भेद-प्रभेद सहित निरूपण किया गया है। ये अलंकार हैं—अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति व पुनरुक्त-वदाभास।

षष्ठ अध्याय : इसमें संकर सहित २९ अर्थालंकार वर्णित हैं। हेमचन्द्र ने अर्थालंकारों की संख्या को काफी न्यून कर दिया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के दशम उल्लास में ६१ अलंकारों का वर्णन किया था, पर हेमचन्द्र ने उनमें से अनेक महत्त्वहीन व चमत्कारशून्य अलंकारों को या तो छोड़ दिया है या इन्ही २९ अलंकारों में उनका अन्तर्भाव कर लिया है। उदाहरणार्थ, उनके मतानुसार संसृष्टि का संकरालंकार में अन्तर्भाव है। दीपक की परिभाषा उन्होंने ऐसी दी है कि तुल्ययोगिता का भी उसी में अन्तर्भाव हो जाता है। परावृत्ति नामक अलंकार में मम्मटोक्त परिवृत्ति व पर्याय दोनों अन्तर्भूत हैं। अनन्वय और उपमेयोपमा को उन्होंने उपमा का ही भेद माना है तथा निदर्शना के अतर्गत प्रतिवस्तूपमा व दृष्टान्त का अन्तर्भाव कर लिया है। स्वभावोक्ति व अप्रस्तुतप्रशंसा को हेमचन्द्र ने क्रमश: जाति और अन्योक्ति नामों से अभिहित किया है।

हेमचन्द्र द्वारा वर्णित २९ अलंकार ये हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति, व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससंदेह, अपह्नुति, परावृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रांति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारणमाला और संकर।

काव्यानुशासन के सूत्र व वृत्तिभाग में इन्हीं २९ अलंकारों का विवेचन किया गया है, पर 'विवेक' में अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित इतर अलंकारों की भी यत्र-तत्र चर्चा आयी है। हेमचन्द्र ने उनका या तो इन २९ अलंकारों में ही अन्तर्भाव किया है या उनका अलंकार न होना सिद्ध किया है।

इस प्रकार उक्त छह अध्यायों में हेमचन्द्र ने काव्य के उन तत्त्वों का विवेचन समाप्त कर लिया है जिनका मम्मट ने काव्यप्रकाश के १० उल्लासों में प्रतिपादन किया था।

सप्तम अध्याय : इस अध्याय का विषय 'नायकनायिका-भेद' है। नायक, प्रतिनायक, नायक के गुण, नायक के चार प्रकार व उनकी विशेषताएं, विविध प्रकार की नायिकाएं, अवस्थानुसार नायिकाओं के भेद आदि विषयों की इसमें चर्चा की गई है। हेमचन्द्र ने इस अध्याय के लिखने में दशरूपक, नाट्यशास्त्र व अभिनवभारती का उपयोग किया है।

अष्टम अध्याय : इसमें प्रबन्धात्मक काव्य के विभिन्न रूपों का वर्णन किया

गया है। सर्वप्रथम प्रबन्ध के दो भेद किये गए हैं—श्रव्य और प्रेक्ष्य। प्रेक्ष्य के भी दो भेद हैं— पाठ्य और गेय। पाठ्य के १२ भेद बताये गए हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी व सट्टक। इनके अतिरिक्त कोहल द्वारा वर्णित त्रोटक आदि की गणना भी पाठ्य के अन्तर्गत की गई है। गेय प्रेक्ष्य के निम्नलिखित १२ भेद बतलाए गये हैं—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड़, हल्लीसक, रासक, श्रीगदित और रागकाव्य। गेय के कुछ अन्य भेदों—शंपा, छलित, द्विपदी आदि का भी उल्लेख मिलता है। 'अलंकारचूड़ामणि' में किसी अज्ञात ग्रंथ से इन सबके लक्षण उद्धृत किये गये हैं।

हेमचन्द्र के अनुसार श्रव्य काव्य के पांच भेद हैं—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चंपू और अनिबद्ध। महाकाव्य पद्यबद्ध होता है तथा उसकी रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व ग्राम्य भाषाओं में से किसी में की जाती है। उसकी कथावस्तु सर्ग, आश्वास, संधि, अवस्कंध या कबन्ध में विभक्त रहती है। उसमें पंच संधियों की सुन्दर योजना तथा शब्द व अर्थ के चारुत्व का समावेश आवश्यक है।

कथा और आख्यायिका का भेद भामह के अनुसार बतलाया गया है। कथा के अनेक रूपों व उनकी प्रतिनिधि कृतियों का निर्देश भी किया गया है, जैसे—(१) उपाख्यान (नलोपाख्यान), (२) आख्यान (गोविन्द), (३) निदर्शन (पंचतंत्र), (४) प्रवह्लिका (चेटक), (५) मंथल्लिका (गोरोचन व अनंगवती), (६) मणिकुल्या (मत्स्यहसित), (७) परिकथा (शूद्रक कथा), (८) खण्डकथा (इन्दुमती), (९) सकलकथा (समरादित्य), (१०) उपकथा और (११) बृहत्कथा (नरवाहनदत्त चरित)[१]। इनमें से अधिकांश कृतियां अनुपलब्ध हैं।

इस अध्याय के अंत में हेमचन्द्र ने चम्पू और अनिबद्ध काव्यों का वर्णन किया है। अनिबद्ध के अन्तर्गत मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक, कुलक व कोष आदि भेद बतलाए गए हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का आठ अध्यायों के कलेवर में वर्णन कर दिया है। संस्कृत अलंकारशास्त्र में विषयगत समग्रता की दृष्टि से काव्यानुशासन की तुलना यदि कोई ग्रंथ कर सकता है तो एकमात्र विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' ही जो काव्यानुशासन के लगभग २०० वर्ष बाद लिखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' की रचना में अनेक स्रोतों से गृहीत सामग्री का उपयोग किया है जिससे यह एक संग्रहात्मक ग्रंथ बन गया है। भरत, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, भोज, मम्मट आदि अनेक आचार्यों के मतों का उन्होंने 'काव्यानुशासन' के सूत्रों एवं वृत्ति व विवेक में शब्दशः

या अपनी भाषा में अनूदित करके उद्धृत किया है। यही कारण है कि 'काव्यानुशासन' में 'ध्वन्यालोक' या 'वक्रोक्तिजीवित' की-सी मौलिकता तथा स्वतंत्र व नूतन उद्भावनाओं के दर्शन नहीं होते। मम्मट के समान समन्वय का विराट् व प्रौढ़ प्रयास भी हेमचन्द्र ने नहीं किया। उनकी कृति में विभिन्न काव्य-तत्त्वों के समन्वय का जो रूप दिखाई देता है उसके लिए वे मम्मट के ऋणी हैं। काव्यानुशासन के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में पूर्व आचार्यों के विचारों व पदावली की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। इसीलिए काव्यशास्त्र के कतिपय आधुनिक विद्वानों ने काव्यानुशासन को मौलिकता-शून्य तथा प्राचीन कृतियों का उच्छिष्ट तक कह दिया है। श्री पी० वी० काणे ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' में काव्यनुशासन के विषय में यह मन्तव्य प्रकट किया है--

"काव्यानुशासन एक संग्रह-ग्रंथ मात्र है, इसमें मौलिकता का शायद ही कहीं दर्शन हो। इसमें काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक तथा लोचन से प्रचुर सामग्री ली गई है।"[४]

डा० सुशीलकुमार दे ने भी अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स' में काव्यानुशासन की मौलिकता के विषय में प्रायः ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उनके मतानुसार "पूर्ववर्ती ग्रंथों पर हेमचन्द्र की निर्भरता इतनी अधिक है कि अनेक अवसरों पर वह दासवत् अनुकरण या साहित्यिक चौर्य की कोटि में पहुंच जाती है।"[५]

यद्यपि हेमचन्द्र में मौलिक प्रतिभा की कमी है पर यह कहना कि काव्यानुशासन अलंकारशास्त्र की पूर्व कृतियों का उच्छिष्ट मात्र है, समीचीन नहीं है। काव्यानुशासन के अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी स्वतंत्र विचारणा व विवेचना का परिचय दिया है। कुछ बिन्दु जिन पर उन्होंने पूर्व आचार्यों से अपनी असहमति या स्वतंत्र मति व्यक्त की है, ये हैं--

१. हेमचन्द्र ने मम्मट द्वारा स्वीकृत काव्य-प्रयोजनों में से अर्थ-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान तथा अशिव-क्षति को अंगीकार नहीं किया। उनके अनुसार काव्य से धन की प्राप्ति अनेकांतिक है, व्यहार-ज्ञान अन्य शास्त्रों से भी हो सकता है तथा अनर्थ-निवारण (शिवेत्तर-क्षति) प्रकारान्तर से भी शक्य है।[६]
२. काव्य-हेतु के विषय में भी हेमचन्द्र ने अपना विचार-स्वातंत्र्य प्रकट किया है। उनके अनुसार प्रतिभा ही एकमात्र काव्य-हेतु है तथा व्युत्पत्ति व अभ्यास उसके केवल संस्कारक हैं।[७]
३. मम्मट के काव्य-लक्षण का अनुगमन करते हुए भी हेमचन्द्र ने काव्य में अलंकार की स्थिति के विषय में अपना मतभेद प्रकट किया है। जहां मम्मट 'अनलंकृती पुनः क्वापि' द्वारा स्फुट या अस्फुट रूप में अलंकारों

की सत्ता काव्य में अनिवार्य मानते हैं वहां हेमचन्द्र 'च' पद द्वारा अलंकार रहित शब्दार्थों में भी कदाचित् काव्यत्व स्वीकार करते हैं।[8]

४. मम्मट के विरुद्ध हेमचन्द्र ने गौणी व लक्षणा को पृथक्-पृथक् शब्द-शक्ति माना है।[9] इस विषय में वे मीमांसकों से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

५. हेमचन्द्र मुख्यार्थबाध, तद्योग तथा प्रयोजन को ही लक्षण का हेतु स्वीकार करते हैं, रूढ़ि को नहीं। मम्मट आदि द्वारा निर्दिष्ट रूढ़ि लक्षणा के स्थलों को वे अभिधा का ही विषय मानते हैं, लक्षणा का नहीं।[10]

६. मम्मट ने अर्थशक्तिमूल ध्वनि में व्यंजक अर्थ के तीन रूप बताये थे— स्वतः संभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध। पर हेमचन्द्र की दृष्टि में यह भेद-व्यवस्था उचित नहीं है। उनके विचार में व्यंजक अर्थ का प्रौढोक्तिनिर्मित होना ही पर्याप्त है; प्रौढोक्ति के अभाव में स्वतः संभवी अर्थ भी अकिंचित्कर है। कवि-निबद्धवक्ता की प्रोढोक्ति वस्तुतः कवि की ही प्रौढोक्ति है।[11]

७. मम्मट आदि ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य या रसध्वनि के पद्गत, पदैकदेशगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, वर्णगत व रचनागत— ये छह रूप माने थे, पर हेमचन्द्र के विचार में पदैकदेश भी पद ही है अतः उसे स्वतंत्र प्रकार मानना ठीक नहीं। जहां तक वर्ण व रचना का प्रश्न है वे साक्षात् रूप से गुणों के व्यंजक होते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से रसाभिव्यक्ति में उनकी उपयोगिता है।[12]

८. हेमचन्द्र ने किन्हीं आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'स्नेह', 'लौल्य' व 'भक्ति' रसों का खंडन कर उनका परंपरागत नवरसों में ही अन्तर्भाव किया है। उन्होंने स्नेह के विभिन्न रूपों की विश्रांति पृथक्-पृथक् भावों या रसों में बतायी है, जैसे मित्र स्नेह की 'रति' में, लक्ष्मण आदि के भ्रातृस्नेह की 'धर्मवीर' में एवं माता-पिता के प्रति बालक के स्नेह की भय में। इसी प्रकार गर्धरूप स्थायीभाव वाले 'लौल्य रस' का उन्होंने 'हास' अथवा रति में अन्तर्भाव माना है।[13]

९. हेमचन्द्र ने रसाभास व भावाभास के दो हेतु माने हैं—(१) निरिन्द्रिय तिर्यगादि में रति आदि भावों का आरोप तथा (२) अनौचित्य, जैसे अन्योन्य अनुराग के अभाव में भी रत्यादि का चित्रण। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मम्मट आदि ने रसाभास व भावाभास के द्वितीय रूप को ही माना है।[14]

१०. मध्यमकाव्य के हेमचन्द्र ने तीन ही प्रकार माने हैं—असत्प्राधान्य,

संदिग्ध-प्राधान्य और तुल्यप्राधान्य। इनमें से अंतिम दो को मम्मट ने इसी रूप में माना है। मम्मट निरूपित अन्य भेदों को हेमचन्द्र ने प्रथम प्रकार—असत्प्राधान्य में अन्तर्भूत कर लिया है।[15]

११. चित्रालंकार के विवेचन में हेमचन्द्र ने इसके स्वरचित्र, व्यंजनचित्र, स्थानचित्र, गतिचित्र, मात्रादिच्युत तथा गूढ़ आदि भेदों[16] का सोदाहरण वर्णन किया है जिनकी चर्चा काव्यप्रकाश में नहीं मिलती।

१२. शब्दालंकार वक्रोक्ति का हेमचन्द्र ने एक ही भेद—'श्लेष वक्रोक्ति' स्वीकार किया है। उनके विचार में 'काकुवक्रोक्ति' को अलंकार की कोटि में रखना ठीक नहीं है, वह वस्तुतः गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य का एक प्रभेद है।[17] अपने मत के समर्थन में हेमचन्द्र ने ध्वन्यालोक की निम्न कारिका उद्धृत की है—

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता।।३.३६

१३. हेमचन्द्र ने केवल २६ अर्थालंकारों का वर्णन किया है। यह इसलिए संभव हुआ कि उन्होंने कतिपय अलंकारों के स्वरूप को व्यापकता देकर उनके कलेवर में अन्य कई अलंकारों को समेट लिया है। उदाहरणार्थ, उपमेयोपमा तथा अनन्वय का उपमा में; प्रतिवस्तूपमा व दृष्टान्त का निदर्शना में; तुल्ययोगिता का दीपक में; मीलित, सामान्य, एकावली व विशेष का अतिशयोक्ति में; प्रतीप का आक्षेप में; व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, अधिक व अतद्गुण का विरोध में; पर्याय व परिवृत्ति का परावृत्ति में; समाधि का समुच्चय में तथा संसृष्टि का संकर में अन्तर्भाव किया गया है।

अलंकारों के सरलीकरण व उनकी संख्या के न्यूनीकरण का यह प्रयास सराहनीय होते हुए भी सर्वत्र तर्कसम्मत नहीं हो सका है। प्रायः दो या अधिक अलंकारों के लक्षणों को किसी एक ही अलंकार में मिश्रित करके उनकी संख्या घटाई गई है। तथापि हेमचन्द्र को इस बात का श्रेय जाता है कि जहां अन्य अलंकारिकों ने अलंकार-संख्या में निरन्तर वृद्धि का मार्ग अपनाया वहां उन्होंने इस सामन्य प्रवृत्ति के विरुद्ध चलने का साहस दिखाया।

इस प्रकार यद्यपि कतिपय स्थलों पर हेमचन्द्र ने अपनी स्वतंत्र बुद्धि व मान्यताओं का परिचय दिया है पर जिन विषयों पर उन्होंने पूर्व आचार्यों से मतभेद प्रकट किया है वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि उनकी मौलिकता को प्रतिष्ठापित कर सकें। निश्चय ही उनके ग्रंथ का अधिकतर भाग अन्य ग्रंथों से यथावत् संकलित या अनूदित सामग्री के रूप में है और इसीलिए उन्हें एक मौलिक ग्रंथकार होने का गौरव प्रदान नहीं कर सकता। पर जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, हेमचन्द्र

का उद्देश्य किसी मौलिक ग्रंथ का निर्माण करना नहीं था। इस विषय में हम श्री आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव के इस विचार से सहमत हैं कि हेमचन्द्र का मुख्य ध्येय अपनी रचनाओं द्वारा ब्राह्मणों के साहित्य से जैनों को परिचित कराना था। अत: अपने ग्रंथों को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने पूर्ववर्ती ब्राह्मण ग्रंथकारों की कृतियों से सामग्री लेने में तनिक भी संकोच नहीं किया।[१८] साथ ही उस पारंपरिक दाय में उन्होंने अपनी ओर से भी थोड़ा-बहुत नया जोड़ा है।

डा० एस० के० दे ने काव्यप्रकाश की तुलना में काव्यानुशासन को पाठ्य-पुस्तक के रूप में एक निम्नकोटि की कृति बताया है।[१९] पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अनेक टीकाओं के होते हुए भी काव्यप्रकाश आज भी छात्रों व विद्वानों के लिए दुरूह व दुर्बोध ग्रंथ बना हुआ है।[२०] दूसरी ओर काव्यानुशासन के सूत्रों, अलंकार-चूड़ामणि वृत्ति व 'विवेक' की प्रतिपादन शैली अपेक्षाकृत सरल व सुबोध है। हेमचन्द्र ने अलंकारों की संख्या भी कम की है जिससे उनके अलंकार-विवेचन में जटिलता व दुर्बोधता नहीं आयी है और शिक्षा ग्रंथ के रूप में उसकी उपयोगिता में भी समानान्तर वृद्धि हुई है।

वस्तुत: काव्यप्रकाश की तुलना में काव्यानुशासन अपनी विषयगत समग्रता व सुगम विवेचन-शैली के कारण अलंकारशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के रूप में अधिक उपयोगी कृति है, पर खेद की बात है कि ब्राह्मणों के विद्या केन्द्रों में जैनाचार्यों की इस सुन्दर कृति का यथोचित सम्मान नहीं हो सका, क्योंकि इसमें आनंदवर्धन के ध्वनि सिद्धांत या कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त के सदृश किसी मौलिक काव्य सिद्धांत की उद्भावना या विवेचना का यत्न नहीं किया गया। हेमचन्द्र का उद्देश्य तो अतीव नम्र व सरल था। उन्होंने शिष्यों व शिक्षार्थियों के लाभार्थ तथा विद्वानों को एक ही स्थान पर काव्यतत्त्वों के विषय में अधिकतम सामग्री मिल सके इस सीमित उद्देश्य से ही काव्यानुशासन की रचना की थी। दुर्भाग्य से मौलिकता के शोचनीय अभाव तथा संग्रह-प्रवृत्ति के अतिरेक के कारण उनके इस प्रयास को समुचित आदर नहीं मिल सका और अलंकारशास्त्र की परवर्ती परंपरा पर भी इसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। तथापि अलंकारशास्त्र के अनेक लुप्त ग्रंथों से संकलित सामग्री के एकमात्र स्रोत तथा सुबोध शैली में रचित एक पाठ्य-ग्रंथ के रूप में काव्यानुशासन का महत्त्व असंदिग्ध है।

संदर्भ

प्रस्तुत निबन्ध में काव्यानुशासन के सभी उद्धरण व संदर्भ श्री रसिकलाल पारीख द्वारा संपादित तथा श्री महावीर जैन विद्यालय, बंबई से १९३८ में प्रकाशित संस्करण से दिये गये हैं।

१. यह श्लोक निम्नलिखित था—

भूमि कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकराः
मुक्तास्वस्तिकमातनुष्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुंभीभव ।
धृत्वा कल्पतरो दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा—
न्याधत्त स्वकरैं विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ।।

२. ग्रंथकार ने 'विवेक' के उद्देश्य को निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है—

विवरीतु क्वचिद् दृब्धं नवं संदर्भितुं क्वचित् ।
काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते ।।

—काव्यानुशासन, अध्याय १, पृ० १

३. काव्यानुशासन के अनुसार कथा के इन विभिन्न रूपों का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) उपाख्यान— किसी प्रबन्ध के मध्य में अन्य के प्रबोधन के लिए कही गयी कथा, जैसे नलोपख्यान ।

(ख) आख्यान— एक ही ग्रंथिक द्वारा अभिनय, पाठ एवं गायन के साथ कही गई कथा, जैसे गोविन्दाख्यान

(ग) निदर्शन— पक्षियों या पक्षिभिन्न प्राणियों के कार्यों से कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान कराने वाली कथा, जैसे पंचतंत्र, कुट्टनीमत आदि ।

(घ) प्रविह्लिका—जिस कथा में प्रधान के विषय में दो व्यक्तियों का विवाद हो तथा जिसका अर्धभाग प्राकृत में रचित हो, जैसे चेटक आदि ।

(ङ) मन्थल्लिका—पैशाची व महाराष्ट्री भाषा में रचित क्षुद्र कथा जैसे गोरोचना, अनंगवती । अथवा जिस कथा में पुरोहित, अमात्य, तापस आदि की असफलता का उपहास किया गया हो ।

(च) मणिकुल्या—जिस कथा में वस्तु पहले न लक्षित हो अपितु बाद में प्रकट हो, जैसे मत्स्यहसित ।

(छ) परिकथा— धर्म आदि पुरुषार्थों में से किसी एक विषय में नाना प्रकार से कहे गये अनन्त वृत्तान्तों व वर्णनों से युक्त कथा, जैसे शूद्रक कथा आदि ।

(च) खण्डकथा— अन्य ग्रंथों में प्रसिद्ध इतिवृत्त का जिस कथा में मध्य या उपान्त भाग से वर्णन किया गया हो, जैसे इन्दुमति ।

(ज) सकलकथा—कथा जिसमें फलप्राप्तिपर्यन्त समस्त वृत्तांत वर्णित हों, जैसे समरादित्य ।

(झ) उपकथा— किसी प्रसिद्ध कथा में से एक ही चरित्र का वर्णन करने वाली कथा ।

(ट) बृहत्कथा— लम्भों से अंकित तथा अद्भुत अर्थ वाली कथा जैसे नरवाहनदत्त का चरित ।

४. द्रष्टव्य पृ० २८८-८९ (तृतीय संशोधित संस्करण, दिल्ली, १९६१)

५. द्रष्टव्य पृ० १८९ की पादटिप्पणी (द्वितीय संशोधित संस्करण, कलकत्ता, १९६१)

६. घनमनैकान्तिकम्, व्यवहारकौशलं शास्त्रेभ्योऽप्यनर्थनिवारणं प्रकारान्तरेणापीति न काव्यप्रयोजनतयास्माभिरुक्तम् ।—काव्यानुशासन, १.३ की वृत्ति

७. द्रष्टव्य वही, १.७ व वृत्ति, पृ० ५

८. चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः ।

—वही १.११ की वृत्ति, पृ० ३३

९. मुख्याद्यास्तच्छक्तयः ॥—वही, १.२०

मुख्यागौणीलक्षणाव्यंजकत्वरूपाः शक्तयो व्यापाराः मुख्यादीनां शब्दानाम् ।

—वही, १.२० की वृत्ति, पृ० ५८

हेमचन्द्र ने गौण व लक्ष्य अर्थों का अन्तर इस प्रकार बताया है—

इह च यत्र वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते स गौणोऽर्थो यत्र तु न तथा स लक्ष्य इति विवेकः ।

—वही, १.१८ की वृत्ति, पृ० ४६

१०. कुशलद्विरेफद्विकादस्यतु साक्षात्संकेतविषयत्वान्मुख्य एवेति न रूढि लक्ष्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता ।

—वही, १.१८ की वृत्ति, पृ० ४६

११. इह च अर्थः स्वतः संभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो वेति भेदकथनं न न्याय्यम्प्रौढोक्तिनिर्मितत्वमात्रेणैव साध्यसिद्धेः । प्रौढोक्तिमन्तरेण स्वसंभाविनोऽप्यकिंचित्करत्वात् । कविप्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरिति किं प्रपंचेन ।

—वही, १.२४ की वृत्ति, पृ० ७२-७३

१२. पदैकदेशोऽपि पदम्...।...वर्णरचनायास्तु साक्षान्माधुर्यादिगुणव्यंजकत्वमेव । तद्द्वारेण तु रसे उपयोग इति गुणप्रकरण एव वक्ष्येते इतीह न नोक्ते ।

—वही, १.२५ की वृत्ति, पृ० ८४-८७

१३. द्रष्टव्य वही, २.२७ की वृत्ति, पृ० १०६

१४. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद् रसभावाभासौ ।

—वही, २.५४, पृ० १४७

अनौचित्याच्च । —वही, २.५५, पृ० १४९

१५. द्रष्टव्य, वही, २.५७ की वृत्ति, पृ० १५२-५५

१६. स्वरव्यंजनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम् ।

—वही, ५.४ पृ० ३०७,

चित्रालंकार-विवेचन में हेमचन्द्र ने संभवतः दण्डी से प्रेरणा ग्रहण की है। द्रष्टव्य काव्यादर्श, ३.८३-९५

१७. काकुवक्रोक्तिस्त्वलंकारत्वेन न वाच्या । पाठधर्मत्वात् । तथा च अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः सा कथमलंकारीस्यादिति यायावरीयः । गुणीभूतव्यंग्यप्रभेद एव चायम् । शब्दस्पृष्टत्वेनार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वात् ।

—वही, ५.७ की वृत्ति, पृ० ३३३

१८. द्रष्टव्य 'काव्यानुशासन' का श्रीध्रुव द्वारा लिखित आमुख, पृ० १२

१९. द हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १८९-९०

२०. काव्यप्रकाश की क्लिष्टता के विषय में यह कथन प्रसिद्ध है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।

भट्टारक सकलकीर्ति का संस्कृत चरित-काव्य को योगदान

•

डॉ० बिहारीलाल जैन

दिगम्बर जैन-संप्रदाय में भट्टारकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक का काल भट्टारकों का स्वर्ण-युग है। भ० सकलकीर्ति का स्थितिकाल लगभग सन् १३८६ ई० से सन् १४४२ ई० तक है।[१] ये गुजरात में अणहिलपुर पट्टण के निवासी थे। किन्तु इनकी शिक्षा-दीक्षा राजस्थान में चित्तौड़ के पास नैणवां ग्राम में गुरु पद्मनंदि के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। ये एक योग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। साहित्य-साधना इनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। यही कारण है कि इतने अल्प समय में इन्होंने निम्नलिखित संस्कृत एवं हिन्दी (राजस्थानी) रचनाएं कीं—

संस्कृत रचनाएं

१. आदिपुराण, २. पुराणसारसंग्रह, ३. शांतिनाथचरित, ४. मल्लिनाथचरित, ५. नेमिजिनचरित, ६. पार्श्वनाथपुराण, ७. वर्द्धमानचरित, ८. धन्यकुमारचरित, ९. सुदर्शनचरित, १०. सुकुमालचरित, ११. यशोधरचरित, १२. श्रीपालचरित, १३. जंबूस्वामीचरित, १४. प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार, १५. मूलाचारप्रदीप, १६. सिद्धांतसारदीपक, १७. तत्वार्थसार, १८. कर्म-विपाक, १९. सुभाषितावली, २०. अष्टाह्निकापूजा, २१. सौलहकारणपूजा, २२. गणधरवलयपूजा, २३. पंचपरमेष्ठीपूजा, २४. परमात्मराजस्तोत्र, २५. व्रतकथाकोष।

---

१. हरषी सुणीय सुवाणी पालई अन्य उअरि सुपर।
चोउद त्रिताली प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ ॥
—सकलकीर्तिरास, वस्तु २, पद्य १४
एवं जैन ग्रंथ प्रशस्तिसंग्रह, परमानंद शास्त्री, प्ररतावना, पृ० ११

हिन्दी (राजस्थानी) रचनाएं

१. आराधना प्रतिबोधसार, २. मुक्तावलीगीत, ३. णमोकारफलगीत, ४. सोलहकारणरास, ५. सारसीखामणिरास, ६. शांतिनाथफागु।

उक्त संस्कृत रचनाओं का अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

(क) पौराणिक या चरितात्मक काव्य।

(ख) आचारशास्त्रीय ग्रंथ।

(ग) जैन-सिद्धान्त, तत्त्वचर्चा एवं दर्शन संबंधी ग्रंथ।

(घ) विविध काव्य—सुभाषित, स्तोत्र एवं कथाकाव्य।

प्रस्तुत निबंध में कवि के संस्कृत चरित-काव्यों का साहित्यिक मूल्यांकन ही प्रस्तुत किया है।

(क) पौराणिक या चरितात्मक काव्य

जैन-पुराण या चरितकाव्य से अभिप्राय उन ६३ शलाका पुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलदेव) के जीवन-चरित का वर्णन है जो इतिहासातीत युग में हुए हैं। इन महापुरुषों के चरितकाव्यों को दिगम्बर संप्रदाय में चरित्र एवं पुराण दोनों ही शब्दों से अभिहित किया जाता है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में 'पुराण' शब्द की व्याख्या में एक व्यापक अर्थ का समावेश किया है।[1] आचार्य सकलकीर्ति ने भी उत्तर आदिपुराण के आधार पर आदिपुराण की रचना की जिसका दूसरा नाम वृषभनाथचरित्र भी है। वे पुराण के स्थान पर चरित शब्द को उपयुक्त समझते हैं अतः ग्रंथारंभ में इसका संकेत इस प्रकार करते हैं—

"यच्चरित्रं पुस प्रोक्तं महामतिविशारदैः।
मया बालेन तत्प्रोक्तु कयं शक्यं प्रियं सताम्॥"

—आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ३१

"तज्ज्ञानं तच्चरित्रं च तत्काव्यं तद्धितंवचः।
श्रोतव्यं कथनीयं च चिंतनीयं मुमुक्षुभिः॥

—वही, सर्ग १, श्लो० ३५

उद्देश्य

जैन-पुराणों का उद्देश्य केवल शलाकापुरुषों का जीवन-वर्णन ही नहीं है अपितु कथा के व्याज से जैन धर्म के गंभीर तत्त्वों को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित

१. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, पर्व २, श्लोक ९६-१५४

करना भी है। संभवत: इसीलिए जैन-कवियों ने लौकिक कथाओं को श्रामणिक सांचे में ढाल दिया। आ० सकलकीर्ति ने अपने चरितकाव्य के अध्ययन के उद्देश्य के संबंध में आदिपुराण में निम्न विचारोद्गार प्रकट किए हैं—

"येन श्रुतेन सम्यानां रागद्वेषादयोऽखिला दोषा नश्यंतिमोहेन सार्द्धं ज्ञानादयो गुणा: ।।
संवेगाद्याश्च वर्द्धंते जायते भावनारुचि: दानपूजातपोध्यानव्रतादि-मोक्षवत्मसु ।।"

— आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ३३-३४

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन धर्म तत्त्व का प्रतिपादन करना है। क्योंकि इससे पुण्यास्रव होता है। काव्य का धर्मतत्त्व ही समष्टि का मंगल करने वाला होता है। अत: काव्य के साथ धर्म का संबंध अत्यंत घनिष्ठ होना चाहिए। बिना धर्म-तत्त्व के काव्य में सौंदर्य नहीं आ सकता और उसके अभाव में शिवत्व का भी अभाव हो जाता है। अत: काव्य में धर्म रूप तत्त्व का संपुट दिए बिना उसके 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की कल्पना आकाश-पुष्प की भांति निराधार है। वस्तुत: धर्म कथा ही काव्य का प्राण है जो स्वर्मुक्ति प्रदान करती है।[१] इसके विपरीत कुकथा होती है, जिसके श्रवण से राग उत्पन्न होता है एवं विरक्ति के भाव नष्ट हो जाते हैं। फलत: आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान से व्यक्ति नाना पापों का बंध करता है।[२] उसका चित्त पाप-प्रवाह-पूर में डूबकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है। यही बात अन्यत्र भी कही गयी है -

"चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी —वहति कल्याणाय, वहति पापायच।"

कथानक

आ० सकलकीर्ति ने अपने चरितकाव्यों का कथानक जैन-परंपरा में अतिप्रसिद्ध तीर्थंकरों एवं महापुरुषों के चरित से संबद्ध किया है। उन्होंने पुराणसारसंग्रह में सभी तीर्थंकरों एवं शलाका-पुरुषों के चरित का सार संगृहीत कर दिया है। यह ग्रंथ एक प्रकार से समस्त जैन-महापुरुषों के जीवन-चरित के ज्ञान के लिए गाइड का काम करता है। उनके भगवान् ऋषभदेव, शांतिनाथ, मल्लिनाथ, नेमिजिन, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान —इन छह तीर्थंकरों के तथा धन्यकुमार, सुदर्शन, सुकुमाल, यशोधर, श्रीपाल और जंबू— इन छह महापुरुषों के स्वतंत्र चरितकाव्य संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि में पर्याप्त योगदान दे रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक शांतिनाथपुराण, वर्द्धमानचरित, धन्यकुमारचरित एवं सुकुमालचरित के अति-

१. यस्यांव्रजन्ति निर्वाणं यतमस्तपसां बलात्। नाकंकेचिच्च साज्ञेयाकथा स्वर्मुक्तिदायिनी।"
—भ० सकलकीर्ति, आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ५६

२. वही, सर्ग १, श्लोक ६५-६७।

रिक्त शेष सभी चरितकाव्य अप्रकाशित हैं। प्रकाशित काव्यों में भी मूल (संस्कृत) का पता नहीं और जो मूलयुक्त काव्य प्रकाशित भी हुए थे तो आज अप्राप्य हैं, मात्र हिंदी अनुवाद भी सुलभ नहीं। जैन-कवियों के साथ यह अन्याय सुधी सहृदयों के लिए चिंता का विषय है।

विषय-सामग्री

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, सकलकीर्ति के काव्यों में महापुरुषों की संवेग उत्पन्न करने वाली धर्म-कथाओं का प्ररूपण है जिनमें धार्मिक तत्त्वों का समावेश भरपूर है। किंतु इन तत्त्वों के महत्त्व को सिद्ध करने वाली अन्यान्य कथाओं, लोक-विश्वासों, कथानक-रूढ़ियों आदि का निरूपण कर काव्य में सरसता एवं जिज्ञासा का मणिकांचन योग हुआ है। संक्षेप में इनका किंचित् विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

जैन धर्म

जीव कर्म-मलों से युक्त होता है। सोना भी खान में धूल तथा कांचनत्व से युक्त होता है। किंतु उसे साफ करने पर उसका कांचन स्वरूप उद्भासित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जीवन के अधर्मरूप कर्म-मैल को दूर कर धर्मरूप जीवत्व को उद्भासित करना ही जैन-धर्म का प्रधान कार्य है। जीव मुख्यत: हिंसा, असत्य, स्तेय, परिग्रह और अब्रह्मचर्य रूप अधर्म से ग्रस्त है जिसे दूर किए बिना मुक्ति या मोक्ष अथवा शाश्वत सुख की उपलब्धि संभव नहीं। इन पंचविध मैल के आंशिक परित्याग को अणुव्रत कहते है जिनका पालन गृहस्थ के लिए आवश्यक है। इन व्रतों के गुणों की वृद्धि जिनसे होती है उन्हें गुणव्रत कहते हैं। ये संख्या में तीन हैं—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड। गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रतों का भी गृहस्थ के जीवन में बहुत अधिक महत्त्व बतलाया गया है। क्योंकि इनसे गृहस्थ के धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। ये संख्या में चार बतलाए गए हैं—सामायिक, पोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभाग।[1] इसी प्रकार यति (श्रमण) धर्म का विवेचन करते हुए कवि ने उसे मुक्तिप्रद कहा है—

"सम्यग्दर्शनसंशुद्धो धर्मः स्वर्गसुखप्रदः।
क्रमान्मुक्तिप्रदश्चैकादश सत्प्रतिमायुतः।
महाव्रतसमित्यादिगुप्तित्रितयभूषितः।।
यतिधर्मोऽस्ति निष्पापो मुक्तिदानैकपंडितः।।[2]

१. भ० सकलकीर्ति, शांतिनाथचरित, अधि० २, श्लोक ४४-४५।
२. वही, अधि० २, श्लोक ४६-४७।

अत्याचार का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन उनके मूलाचार-प्रदीप में हुआ है।

जैन दर्शन

दर्शन का अर्थ है दृष्टि विशेष अर्थात् विचार या चिंतन। जैन दर्शन के विचार या चिंतन का सार स्याद्वाद है। स्याद्वाद को समझने के पूर्व तत्त्वज्ञान आवश्यक है। ये तत्त्व हैं—

"जीवाजीवासुवा वंधः संवरो निर्जरा मोक्षः।
इति सप्तैव तत्त्वानि प्रोक्तानि श्री जिनेशिना।।"
—भ० सकलकीर्ति, मल्लिनाथपुराण, परिच्छेद ७, श्लोक २२

जीव चैतन्य लक्षण है। अजीव में चैतन्य का अभाव होता है। अजीव तत्त्व पांच प्रकार का होता है—पुद्गल (Matter), धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुण्य और पाप के आगमद्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मा में कर्म परमाणुओं के प्रवेश को बंध कहते हैं। पुण्यपापागमद्वारभूत आस्रव को रोक देना संवर कहलाता है। कर्मों के एक भाग का क्षय निर्जरा एवं कृत्स्न कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन सकलकीर्ति के ग्रंथों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।[1]

भावपक्ष

कवि की चेतना का संबंध रागात्मक होता है। उसकी अंतःसलिला काव्य-रूप में प्रवाहित होकर अनेक भव्य-जीवों के कर्म-मलों का प्रक्षालन कर देती है। काव्यात्मा का शाश्वत प्रदीप प्रत्येक अध्येता का मार्गदर्शन करता है। शारीरिक बुभुक्षा की शांति तो भोजनादि से हो जाती है किंतु हृदय की भूख-भाव-पदार्थों के साध्यवसायित होने पर ही बुझती है। सत्काव्य सहृदय का सात्विक भोजन है। सात्विक भाव सत्कवि का सच्चा लक्षण है। जितना बड़ा महाकवि होता है वह समष्टि के साथ उतना ही एकरस हो जाता है। सकलकीर्ति ऐसे ही महाकवि थे जिनकी अंतश्चेतना चराचर सृष्टि के मंगल की उत्कट अभिलाषा से तरंगायित थी। फलतः अनेक लोक-मंगलकारी काव्यों की सृष्टि हुई।

इनके समस्त काव्यों में शांत रस विराजमान है। यह शांतरस की पुण्य सलिला इस कलि-युग की घोर अशांति को बहा ले जाने में सुतरा समर्थ है। आवश्यकता है इसके रस-पान करने की। एक बार चसका लग जाए तो आजीवन उसका अमिट प्रभाव पड़े विना नहीं रह सकता। इसीलिए कवि ने केवल काव्य-सृजन में अपने जीवन की इतिश्री नहीं समझी, अन्यान्य काव्यों के अध्ययन, प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण के भी अनेक उपाय किए।

---

१ दे० शांतिनाथपुराण, परिच्छेद ८।

सकलकीर्ति के सभी काव्यों में करुणा, दया, त्याग, प्रेम, शांति एवं लोक-मंगल का आदर्श सन्निहित है। उनके काव्यों में अर्थ और काम रूप पुरुषार्थद्वय का भी यथा-स्थान विवेचन किया गया है किन्तु अर्थ और काम धर्म से नियमित होने चाहिए। दूसरे शब्दों में धर्म से अनुप्राणित अर्थ और काम का उपभोग लोक-मंगलकारी होता है। अपरिग्रहवाद एवं ब्रह्मचर्य-अणुव्रत इसी बात के द्योतक हैं। वस्तुतः धर्म ही हेयोपादेय का ज्ञान कराता है। अतः काव्य में इसका प्राधान्य नितांत आवश्यक है। वक्रोक्तिजीवितकार[1], काव्यप्रकाशकार[2] आदि साहित्यशास्त्रियों ने भी काव्य में धर्म-पुरुषार्थ की आवश्यकता पर बल दिया है।

कवि ने अनेक सुन्दर पात्रों की सृष्टि की है। ये पात्र यथार्थ से आदर्श की ओर प्रयाण करने वाले हैं। कुछ खल-पात्र भी अपनी वैयक्तिक विशेषताएं लेकर काव्य-रंगमंच पर आ धमकते हैं। इस प्रकार सारे काव्यगुणों एवं दुर्गुणों के संघर्ष को बतलाकर गुणों की दुर्गुणों पर विजय का सिंहनाद करते प्रतीत होते हैं। राजपुर के राजा मारिदत्त दाता, भोक्ता, कला-मर्मज्ञ एवं चक्रवर्ती सम्राट् हैं—

"दाता भोक्ता कलायुक्तो लक्षणन्वितनविग्रहः।
बहुसंपत्परीवारो धीर - सामंत - सेवितः।।"

—भ० सकलकीर्ति, यशोधरचरित, सर्ग १, श्लोक ३०

इसी प्रकार अवन्ती के राजा कीर्त्यौंध का निर्मल चरित्र भी अनुकरणीय है—

"त्यागीभोगीव्रती दक्षो नीतिमार्गविशारदः।
दृगादिसद्गुणोपेतो जिनभक्तो दयार्द्रधीः।।"

—वही, सर्ग २, श्लोक २४

किन्तु दुष्ट भैरवानंद समस्त दुगुर्णों एवं आडम्बरों की साक्षात्मूर्ति है—

धर्मविवेकादिहीनस्तादृक्जनान्वितः।
स्वेच्छाचारयुतो दुष्टः सदाक्षसुखलोलुपः।।
जटाजूटशिरोदण्डकरश्चर्मास्थिमस्मभिः।
भूषितो याति रौद्रात्मा विषयासक्तधीः शठः।।
कापालिको दयाहीनो भैरवानंदनामभाक्।
आडम्बरयुतस्तस्मिन् पुरे यातिग आगतः।।

—वही, सर्ग १, श्लोक ३१, ३२, ३४

प्रकृतिचित्रण से काव्य का बहुत घनिष्ठ संबंध होता है। कोई भी कवि प्रकृति की प्रेरणा के बिना काव्य-निर्माण नहीं कर सकता। प्रकृति का मनुष्य की अंतः-

१. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः। काव्यबंधो भिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।
—वक्रोक्तिजीवितम्

२. 'काव्यं...शिवेतरक्षतये' इत्यादि।

प्रकृति से रागात्मक संबंध होता है। कवि के काव्यों में मानव-प्रकृति का चित्रण बहुत ही सुन्दर हुआ है। जड़-प्रकृति के चित्रण का भी अभाव नहीं है। कहीं इसका भयावह तो कहीं सुकोमल स्वरूप का चित्रण कर कवि ने काव्य-प्रभाव की अन्विति का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। किंचित् दिग्दर्शन के लिए एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

"अथास्ति विंध्यनामागिरिस्तुंगोऽतिभयंकरः।
मांशाशिभिर्व्याघ्रादिभिर्व्याधैश्च हिंसकैः।।" इत्यादि।

—वही, सर्ग ५, श्लोक २

"अथ सिप्रानदी रम्या विशालाऽमलसजला।
विशालाशाललग्नाऽस्ति सपद्मा सिकतान्विता।।"

—वही, सर्ग ५, श्लोक ४३

कलापक्ष

सकलकीर्ति का संस्कृत-भाषा पर अपूर्व अधिकार है। भाषा में प्रवाह एवं प्रभविष्णुता है। शैली कहीं अलंकृत तो कहीं अनलंकृत है। अलंकारों का उपयोग भी विषय की स्पष्टता के लिए ही हुआ है। अतः अनुप्रास को छोड़कर शेष सभी शब्दालंकारों का अभाव दृष्टिगत होता है। अर्थालंकारों में भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि का प्राधान्य है। रूपक का एक उदाहरण सहृदयों के आस्वादनार्थ दिया जा रहा है—

"ज्ञानजालं परं ज्ञेयं पंचाक्षमत्स्यबंधने।
ज्ञानसिंहो भवत्येव कामदंतिविघातने।
ज्ञानपाशो दृढो नृणां मनोमर्कटरुंधने।
ज्ञानमादित्य एवाखिलाज्ञानध्वांतनाशने।।"

—मल्लिनाथपुराण, परि० १, श्लोक ७१-७२

उनका गद्य भी प्रौढ किंतु प्रासादिक शैली में है। समस्त पदों का प्रायः अभाव है। स्वाभाविक रूप से जो समास बन जाता है उसी का प्रयोग किया गया है। यथा—"इति जिनप्रणीतं तत्त्वमजानाना कर्म्मश्रृंखलावृत्तास्तीव्रतरं दुःखं भुंजानाः प्राणिनो दुरन्ते संसार-कान्तारे प्रत्यहं भ्रमन्ति। अतो दुःखभयभीतैः शर्मकांक्षिभिः सम्यक्त्व-संयमादिभिर्मिथ्यासंयमादीनाहत्य मुक्तिसाधने प्रयत्नः कर्त्तव्यः।"

—उत्तरपुराण, पत्र सं० २७

कहीं-कहीं शब्द चयन की अदक्षता से अनुचित अर्थ की ध्वनि भी सहृदयों को सुनाई पड़ जाती है जिसे भाषागत दोष कह सकते हैं।

यथा — "एकादा तेन संदृष्टो मार्गभ्रष्टो यतीश्वरः।
पुण्यात् सागरसेनाख्यः पथि संभ्रमता वने।।"

—शांति, अधि० २, श्लोक २०१

यहां 'मार्गभ्रष्ट' शब्द यद्यपि रास्ता भूले हुए यती के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु इस शब्द से एक दूसरा अर्थ 'बुरे मार्ग का आचरण करने वाला' भी प्रतीत हो जाता है जो ठीक नहीं।

चरित-काव्यों के माध्यम से कवि ने जन-मानस तक जैन-धर्म एवं संस्कृति के स्वरूप को हृदयंगम कराने का सफल प्रयास किया है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए संस्कृत भाषा का आश्रय लिया गया। अतः भाषा के सरलतम स्वरूप को अपनाकर कवि ने जहां संस्कृत को पुनः प्रतिष्ठित किया वहां चरितकाव्यों की क्षीण-धारा को पुनः मधुर रस से भर दिया। धर्म, चरित्र, पुण्य, पाप, काम, वीतराग, निर्ग्रंथ, गुरुसेवा, तप, द्वेष, राग, क्रोध, मान, माया, लोभ, संगति, जिनपूजा, पात्रदान, कुपात्रदान, भावना, रात्रिभोजन, गृहत्याग, भोग, धैर्य, शोक, स्नान, देह-नैर्मल्य, व्रतभंग, समाधिमरण, आशा, परिवार कर्म, महामंत्र, धर्मोषध, एकत्वविवेक, द्यूत, सप्तव्यसन, नारी, ज्ञान, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व आदि अनेकानेक विषयों का श्रमण संस्कृति के व्यापक परिवेश में विशद विवेचन भ० सकलकीर्ति के चरित-काव्यों की प्रमुख विशेषता है। इस क्षेत्र में संस्कृत-साहित्य में इनका योगदान अविस्मरणीय है।

ग्रन्थों की सुरक्षा में राजस्थान के जैनों का योगदान

•

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

सारे देश में हस्तलिखित ग्रंथों का अपूर्व संग्रह मिलता है। उत्तर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक सभी प्रांतों में हस्तलिखित ग्रंथों के भंडार स्थापित हैं। इनमें सरकारी क्षेत्रों में पूना का भंडारकर-ओरियंटल इंस्टीट्यूट, तंजोर की सरस्वती महल लायब्रेरी, मद्रास विश्वविद्यालय की ओरियंटल मेनास्क्रप्टस लायब्रेरी, कलकत्ता की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सामाजिक क्षेत्र में अहमदाबाद का एल० डी० इंस्टीट्यूट, जैन सिद्धांत भवन आरा, पन्नालाल सरस्वती भवन बंबई, जैन शास्त्र भंडार कारंजा, लिम्बीडी, सूरत, आगरा, दिल्ली आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इस प्रकार सारे देश में इन शास्त्र भंडारों की स्थापना की हुई है। जो साहित्य-संरक्षण एवं संकलन का एक अनोखा उदाहरण है।

लेकिन हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह की दृष्टि से राजस्थान का स्थान सर्वोपरि है। मुस्लिम शासनकाल में यहां के राजा-महाराजाओं ने अपने-अपने निजी संग्रहालयों में हज़ारों ग्रंथों का संग्रह किया और उन्हें मुसलमानों के आक्रमण से अथवा दीमक एवं सीलन से नष्ट होने से बचाया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् राजस्थान सरकार ने जोधपुर में जिस प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान की स्थापना की थी उसमें एक लाख से अधिक ग्रंथों का संग्रह हो चुका है जो एक अत्यधिक सराहनीय कार्य है। इसी तरह जयपुर, बीकानेर, अलवर जैसे कुछ भूतपूर्व शासकों के निजी संग्रह में भी हस्तलिखित ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है जिनमें संस्कृत ग्रंथों की सर्वाधिक संख्या है। लेकिन इन सबके अतिरिक्त राजस्थान में जैन ग्रंथ भंडारों की संख्या सर्वाधिक है और उनमें संगृहीत ग्रंथों की संख्या तीन लाख से कम नहीं है।

राजस्थान में जैन समाज पूर्ण शांतिप्रिय एवं प्रभावक समाज रहा। इस प्रदेश की अधिकांश रियासतें जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर, बूंदी, डूंगरपुर, अलवर, भरतपुर, कोटा, झालावाड़, सिरोही में जैनों की घनी आबादी

है, जो इस ग्रंथ की अब तक उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन है ।[1] जैसलमेर के ग्रन्थ भंडार में और भी ग्रंथों की प्राचीनतम पांडुलिपियां हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं— अभयदेवाचार्य की विपाकसूत्र वृत्ति (सन् ११२८), जयकीर्ति सूरि का छन्दोनुशासन (सन् ११३५) अभयदेवाचार्य की भगवतीसूत्र वृत्ति (सन् ११३८) इत्यादि ।

विमलसूरि द्वारा विरचित पउमचरियं की सन् ११४१ में लिखित प्राचीन पांडुलिपि भी इसी भंडार में संगृहीत है ।[2] यह पांडुलिपि महाराजाधिराज श्री जयसिंह देव के शासनकाल में लिखी गयी थी । वर्द्धमानसूरि की व्याख्या सहित उपदेशपदकरण की पांडुलिपि, जिसका लेखन अजमेर में सम्वत् १२१२ में हुआ था, इसी भंडार में संगृहीत है ।

चंद्रप्रभस्वामीचरित (यशोदेव सूरि) की भी प्राचीनतम पांडुलिपि इसी भंडार में सुरक्षित है, जिसका लेखनकाल सन् ११६० है तथा जो ब्राह्मणगच्छ के पं० अभयकुमार द्वारा लिपिबद्ध की गयी थी ।[3] इसी तरह भगवती सूत्र (संवत् १२३१), लिपिकर्ता घणचन्द्र, व्यवहारसूत्र (सम्वत् १२३६) लिपिकर्ता जिनबंधुर, महावीरचरित (गुणचन्द्र सूरि सम्वत् १२४२) तथा भवभावनाप्रकरण (मल धारि हेमचन्द्र सूरि सम्वत १२९०) की भी प्राचीनतम प्रतियां इसी भंडार में संगृहीत हैं । ताड़पत्र के समान कागज पर उपलब्ध होने वाले ग्रंथों में भी इन भंडारों में प्राचीनतम पांडुलिपियां उपलब्ध होती हैं, जिनका संरक्षण अत्यधिक सावधानीपूर्वक किया गया है । नये मंदिरों में स्थानान्तरित होने पर भी जिनको सम्हालकर रखा गया तथा दीमक, सीलन आदि से बचाया गया । इस दृष्टि से मध्ययुग में होने वाले भट्टारकों का सर्वाधिक योगदान रहा ।

जयपुर के दि० जैन तेरहपंथी बड़ा मंदिर के शास्त्र भंडार में समयसार की संवत १३२९ की पांडुलिपि है, जो दिल्ली में गयासुद्दीन बलवन के शासनकाल में लिखी गयी थी । योगिनीपुर में, जो दिल्ली का पुराना नाम था, इसकी प्रतिलिपि की गयी थी ।[4]

सन् १३३४ में लिखित महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के द्वितीय भाग उत्तरपुराण की एक पांडुलिपि आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में संगृहीत है । यह

१. सम्वत् ११९१ भाद्रपदे ।
२. सम्वत् ११९८ कार्तिक बदि १३ ।।छ।। महाराजाधिराज श्री जयसिंघ विजयदेवराज्ये भृगुकच्छ समवस्थितेन लिखितेयं सिल्लणेन ।।
३. सम्वत् १२१७ चैत्र बदि ९ बुधौ ।।छ।। ब्राह्मणगच्छे पं० अभयकुमारस्य ।
४. सम्वत् १३२९ चैत्र बुदी दशम्यां बुधवासरे अद्येह योगिनीपुरे समस्तराजावलि समालंकृत श्रीगयासुद्दीनराज्ये अत्रस्थित अग्रोतकपरमश्रावक जिनचरनकमल...।

पांडुलिपि भी योगिनीपुर में मोहम्मद शाह तुगलक के शासनकाल में लिखी गयी थी। इसकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

संवत्सरेस्मिन् श्री विक्रमादित्य-गताब्दा : सम्वत् १३९१ वर्षे ज्येष्ठ बुदि ९ गुरूवासरे अधेह श्री योगिनीपुरे समस्तराजावलि शिरोमुकट माणिक्य खचित नखरश्मौ सुरत्राण श्री मुहम्मद साहि नाम्नी महीं विभ्रति सति अस्मिन राज्ये योगिनी पुरस्थिता—।

जैनेतर ग्रंथों की सुरक्षा

यहां एक बात और विशेष ध्यान देने की है और वह यह है कि जैनाचार्यों एवं श्रावकों ने अपने शास्त्र भंडारों में ग्रंथों की सुरक्षा में जरा भी भेदभाव नहीं रखा। जिस प्रकार उन्होंने जैन ग्रंथों की सुरक्षा एवं उनका संकलन किया उसी प्रकार जैनेतर ग्रंथों की सुरक्षा एवं संकलन पर भी विशेष जोर दिया।

जैन विद्वानों ने अथक परिश्रम करके जैनेतर ग्रंथों की प्रतिलिपियां या तो स्वयं कीं अथवा अन्य विद्वानों से उनकी प्रतिलिपि करवायीं। आज बहुत से तो ऐसे ग्रंथ है जिनकी केवल जैन शास्त्र भंडारों में ही पांडुलिपियां मिलती हैं। इस दृष्टि से आमेर, जयपुर, नागौर, बीकानेर, जैसलमेर, कोटा, बूंदी एवं अजमेर के जैन शास्त्र भंडारों का अत्यधिक महत्त्व है। जैन विद्वानों ने जैनेतर ग्रंथों की सुरक्षा ही नहीं की किंतु उन पर कृतियां, टीका एवं भाष्य भी लिखे। उन्होंने उनकी हिंदी में टीकाएं लिखी और उनके प्रचार-प्रसार में अत्यधिक योग दिया। राजस्थान के इन जैन शास्त्र भंडारों में काव्य, कथा, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित विषयों पर सैकड़ों रचनाएं उपलब्ध होती हैं। यही नहीं, स्मृति, उपनिषद एवं संहिताओं का भी भंडारों में संग्रह मिलता है। जयपुर के पाटौदी के मंदिर में पांच सौ ऐसे ही ग्रंथों का संग्रह किया हुआ उपलब्ध है।

मम्मट के काव्यप्रकाश की सम्वत् ११२५ की एक प्राचीनतम पांडुलिपि जैसलमेर के शास्त्र भंडार में संगृहीत है। यह प्रति शाकंभरी के कुमारपाल के शासनकाल में अणहिलपट्टन में लिखी गयी थी। सोमेश्वर कवि की काव्यादर्श की सन् ११२६ की एक ताडपत्रीय पांडुलिपि भी यहीं के शास्त्र भंडार में संगृहीत है। कवि रूद्रट के काव्यालंकार की इसी भंडार में सम्वत् १२०६ आषाढ़ बदी ५ की ताडपत्रीय पांडुलिपि उपलब्ध होती है। इस पर नमिसाधु की संस्कृत टीका है। इसी विद्वान् द्वारा लिखित टीका की एक प्रति जयपुर के आमेर शास्त्र भंडार में संगृहीत है। इसी तरह कुंतक कवि का वक्रोक्तिजीवित, वामन कवि का काव्यालंकार, राजशेखर कवि की काव्यमीमांसा, उद्भट कवि का अलंकारसंग्रह आदि ग्रंथों की प्राचीनतम पांडुलिपियां भी जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर, अजमेर एवं नागोर के शास्त्र-भंडारों में संगृहीत है।

कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध एवं भट्टी जैसे संस्कृत के शीर्षस्थ कवियों के काव्यों की प्राचीनतम पांडुलिपियां भी राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों में संगृहीत हैं। यही नहीं इन भंडारों में कुछ काव्यों की एक से अधिक भी पांडुलिपियां हैं। किसी-किसी भंडार में तो यह संख्या २० तक भी पहुंच गयी है। जैसलमेर के शास्त्र भंडार में कालिदास के रघुवंश की चौदहवीं शताब्दी की प्रति है। इन काव्यों पर गुणरतन सूरि, चरित्रवर्द्धन, मल्लिनाथ, समयसुन्दर, धर्ममेरु, शांतिविजय जैसे कवियों की टीकाओं का उत्तम संग्रह है। किरातार्जुनीय काव्य पर प्रकाश वर्ष की टीका की एकमात्र प्रति जयपुर के आमेर शास्त्र-भंडार में संगृहीत है। प्रकाश वर्ष ने लिखा है कि वह कश्मीर के हर्ष का सुपुत्र है।

उदयनाचार्य की किरणावली की एक प्रति टीका सहित आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में उपलब्ध है। सांख्य-संप्तति की पांडुलिपि भी इसी भंडार में संगृहीत है, जो सम्वत् १४२७ की है।[1] इसी ग्रंथ की एक प्राचीन पांडुलिपि जिसमें भाष्य भी है, जैसलमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध है और वह सम्वत् १२०० की ताडपत्रीय प्रति है। इसी भंडार में सांख्य तत्त्व-कौमुदी (वाचस्पति मिश्र) तथा ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका की अन्य पांडुलिपियां भी उपलब्ध होती हैं।[2] पांतजलयोग दर्शन भाष्य (वाचस्पित हर्ष मिश्र) की पांडुलिपि भी जैसलमेर के भंडार में सुरक्षित है। प्रशस्तपाद भाष्य की एक बारहवीं शताब्दी की पांडुलिपि भी यहीं के भंडार में मिलती है।

अलंकारशास्त्र के ग्रंथों के अतिरिक्त कालिदास, मुरारी, विशाखदत्त एवं भट्ट नारायण के संस्कृत नाटकों की पांडुलिपियां भी राजस्थान के इन्हीं भंडारों में उपलब्ध होती हैं। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नाटक, मुरारी कवि का अनर्घराघव, कृष्ण मिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, महाकवि सुबंधु की वासवदत्ता आख्यायिका की ताडपत्रीय प्राचीन पांडुलिपियां जैसलमेर के भंडार में एवं कागज पर अन्य शास्त्र-भंडारों में संगृहीत हैं।

अपभ्रंश साहित्य की सुरक्षा

अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य जयपुर, नागौर, अजमेर एवं उदयपुर के शास्त्र-भंडारों में मिलता है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ एवं रिढ़णेमिचरिउ की प्राचीनतम पांडुलिपियां जयपुर एवं अजमेर के शास्त्र-भंडारों में संगृहीत हैं। पउमचरिउ की संस्कृत टीकायें भी इन्हीं भंडारों में उपलब्ध हुई हैं। महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ की प्रतियां भी इन्हीं भंडारों में मिलती हैं। अब तक उपलब्ध पांडुलिपियों में उत्तरपुराण की सम्वत्

१. देखिये—जैन ग्रंथ भंडार्स इन राजस्थान, पृ० २२०
२. वही।

१३६१ की पांडुलिपि सबसे प्राचीन है और वह जयपुर के ही एक भंडार में संगृहीत है।[1] महाकवि नयनन्दि की सुंदसणचरिउ की जितनी संख्या में पांडुलिपियां जयपुर के शास्त्र-भंडार में संगृहीत हैं उतनी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। नयनन्दि ग्यारहवीं शताब्दी के अपभ्रंश के कवि थे। इनके एक अन्य ग्रंथ सयलविहिविहाण काव्य की एकमात्र पांडुलिपि जयपुर के आमेर शास्त्र भंडार में संगृहीत है।[2] इसमें कवि ने अपने से पूर्व होने वाले कितने ही कवियों के नाम दिए हैं। इसी तरह श्रृंगार एवं वीर रस के महाकवि वीर का जम्बूसामिचरिउ भी राजस्थान में अत्यधिक लोकप्रिय था और उसकी कितनी ही प्रतियां जयपुर एवं आमेर के शास्त्र-भंडारों में उपलब्ध होती हैं। अपभ्रंश में सबसे अधिक चरितकाव्य लिखने वाले महाकवि रइधू के अधिकांश ग्रंथ राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों में उपलब्ध हुए हैं।

अपभ्रंश के अन्य कवियों में महाकवि यश:कीर्ति, पंडित लाखू, हरिषेण, श्रुतकीर्ति, पद्मकीर्ति, महाकवि श्रीधर, महाकवि सिंह, धनपाल, श्रीचन्द, जयमित्रहल, नरसेन, अमरकीर्ति, गणिदेवसेन, माणिक्कराज एवं भगवतीदास जैसे पचासों कवियों की छोटी-बड़ी सैकड़ों रचनाएं इन्हीं भंडारों में संगृहीत हैं। अठारहवीं शताब्दी में होने वाले अपभ्रंश के अन्तिम कवि भगवतीदास की कृति मृगांकलेखा चरित की पांडुलिपि भी आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में संगृहीत है। भगवतीदास हिंदी के अच्छे विद्वान थे, जिनकी बीस से भी अधिक रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

राजस्थानी एवं हिंदी के ग्रंथ

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के समान ही जैन ग्रंथ भंडारों में हिंदी एवं राजस्थानी भाषा के ग्रंथों की पूर्ण सुरक्षा की गयी। यही कारण है कि राजस्थान के इन ग्रंथ भंडारों में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा की दुर्लभ कृतियां उपलब्ध हुई हैं और भविष्य में और भी होने की आशा है। हिंदी के बहुचर्चित ग्रंथ पृथ्वीराज रासो की प्रतियां कोटा, बीकानेर एवं चूरू के जैन भंडारों में उपलब्ध हुई हैं। इसी तरह बीसलदेवरासो की भी कितनी ही पांडुलिपियां अभयग्रंथालय बीकानेर एवं खरतरगच्छ जैन शास्त्र भंडार कोटा में उपलब्ध हो चुकी है। प्रसिद्ध राजस्थानी कृति कृष्ण-रूक्मणि बेलि पर जो टीकाएं उपलब्ध हुई हैं वे भी प्राय: सभी जैन भंडारों में संरक्षित हैं। इसी तरह बिहारी सतसई, रसिकप्रिया, जैतसीरासो, बैताल पच्चीसी, 'विह्लणचरित' चौपाई की प्रतियां राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भंडारों में संगृहीत हैं। हिन्दी की अन्य रचनाओं में राजसिंह कवि का जिनदत्त

१. देखिये प्रशस्ति संग्रह—डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, पृ० ६२
२. वही, पृ० २८५

चरित (सम्वत् १३५४) साधारु कवि का प्रद्युम्नचरित (सम्वत् १४११) आदि ग्रंथों की दुर्लभ पांडुलिपियां भी जयपुर के जैन शास्त्र भंडारों में संगृहीत हैं। ये दोनों ही कृतियां हिंदी के आदिकाल की कृतियां हैं, जिनके आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहास की कितनी ही विलुप्त कड़ियों का पता लगाया जा सकता है। कबीर एवं गोरखनाथ के अनुयायियों की रचनाएं भी इन भंडारों में संगृहीत हैं जिनके गहन अध्ययन एवं मनन की आवश्यकता है। मधुमालती कथा, सिंहासन बत्तीसी, माधवानल-प्रबंधकथा की प्राचीनतम पांडुलिपियां भी राजस्थान के इन भंडारों में संगृहीत हैं।

वास्तव में देखा जाए तो राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों ने जितना हिंदी एवं राजस्थानी ग्रंथों को सुरक्षित रखा है उतने ग्रंथों को अन्य कोई भी भंडार नहीं रख सके हैं। जैन कवियों की सैकड़ों गद्य पद्य रचनाएं इनमें उपलब्ध होती हैं, जो काव्य, चरित, कथा, रास, वेलि, फागु, ढमाल, चौपई, दोहा, बारहखड़ी, विलास, गीत, सतसई, पच्चीसी, बत्तीसी, सतावीसी, पंचासिका, शतक के नाम से उपलब्ध होती हैं।

तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक निबद्ध कृतियों का इन भंडारों में अम्बार लगा हुआ है जिनका अभी तक प्रकाशित होना तो दूर रहा, वे पूरे प्रकाश में भी नहीं आ सके हैं। अकेले ब्रह्मजिनदास ने पचास से भी अधिक रचनायें लिखी हैं, जिनके संबंध में विद्वत् जगत अभी तक अन्धकार में ही है। अभी हाल में ही महाकवि दौलतराम की दो महत्त्वपूर्ण रचनाओं—जीवंधर स्वामी चरित एवं विवेकविलास का प्रकाशन हुआ है। कवि ने १८ रचनायें लिखी हैं और वे एक से एक उच्चकोटि की हैं। दौलतराम अठारहवीं शताब्दी के कवि थे और कुछ समय उदयपुर भी महाराणा जगतसिंह के दरबार में रह चुके थे।[1]

कलात्मक कृतियां

पांडुलिपियों के अतिरिक्त इन जैन भंडारों में कलात्मक एवं सचित्र कृतियों की भी सुरक्षा हुई है।[2] कल्पसूत्र की कितनी ही सचित्र पांडुलिपियां कला की उत्कृष्ट कृतियां स्वीकार की गयी हैं। कल्पसूत्र कालकाचार्य की एक ऐसी ही प्रति जैसलमेर के शास्त्र भंडार में संगृहीत है। कला-प्रेमियों ने इसे पन्द्रहवीं शताब्दी की स्वीकार की है। आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में एक आदिनाथ पुराण की सम्वत् १४६१ (सन् १४०४) की पांडुलिपि है। इसमें १६ स्वप्नों का जो चित्र

१. देखिये दौलतराम कासलीवाल—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल।
२. जैनग्रंथ भंडाराज इन राजस्थान—डॉ० के० सी० कासलीवाल।

है वह कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह राजस्थान के अन्य भंडारों में आदिपुराण, जसहरचरिउ, यशोधरचरित, भक्तामरस्तोत्र, णमोकार महात्म्यकथा की जो सचित्र पांडुलिपियां हैं वे चित्रकला की उत्कृष्ट कृतियां हैं। ऐसी कृतियों का संरक्षण एवं लेखन दोनों ही भारतीय चित्रकला के लिए गौरव की बात है।

आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र की अज्ञात रचनाएं

•

अगरचन्द नाहटा

जैन तीर्थंकरों ने प्रधानतया लोक-कल्याण का उपदेश दिया पर साथ ही तत्त्व-विज्ञान की बातें भी उनके प्रवचनों में आती रही हैं। जिनवाणी को गौतम आदि गणधरों ने सुनकर एक व्यवस्थित रूप दिया जिससे शिष्य-प्रशिष्यों को उनका पाठ दिया जा सके। इसीलिए कहा गया है कि 'अत्थंभासइअरहा, सुत्तंगुंथन्ति गणहरा निउणा।' भगवान् महावीर की वाणी को 'अर्द्धमागधी' भाषा कहा जाता है। अतः एकादशांग साहित्य अर्द्धमागधी प्राकृत में हैं। बारहवां दृष्टिवाद नामक अंग सूत्र काफी समय से विच्छेद है। उसके आधार से कुछ प्रकरण आदि ग्रंथ रचे गये वे प्राप्त हैं। १४ पूर्व नामक विशाल और विविध विषयक साहित्य इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ही था। दृष्टिवाद का जो विवरण समवायांग या अन्य नंदी सूत्र में मिलता है, इससे उसकी महानता और महत्त्वता भली-भांति सिद्ध होती है।

जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि को उनके प्रथम गणधर 'इन्द्रभूति' गौतम को केवलज्ञान हुआ। अतः पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ही चतुर्विधसंघ का संचालन करने लगे। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य जंबू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा है कि भगवान् महावीर ने मुझे अमुक अंग इस रूप में सुनाया यानी भगवान् महावीर ने मुझे जिस रूप में कहा, वही मैं तुम से कह रहा हूं। ११ अंग सूत्रों के अतिरिक्त उपांग आदि सूत्र समय-समय पर बनते रहे हैं पर उनमें केवल ४-५ सूत्रों के रचयिताओं के नाम ही हमें ज्ञात हैं, बाकी आगमों में उनके रचयिताओं का उल्लेख हमें नहीं मिलता। जंबू स्वामी अंतिम केवली थे। उन्होंने तथा उनके शिष्य प्रभव स्वामी ने कोई ग्रंथ नहीं बनाया। प्रभव के शिष्य भवस्वामी ने दशवैकालिक सूत्र संकलित किया। उसके बाद ग्रंथकार के रूप में जो सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, वे हैं—अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी। उच्छेद सूत्रों और कल्पसूत्र के निर्माता तो वे निर्विवाद रूप में माने जाते हैं, पर परंपरा के अनुसार १० आगमों की महत्त्वपूर्ण निर्युक्तियां भी उन्होंने ही बनायीं, जिनमें से

कुछ अब प्राप्त नहीं हैं। निर्युक्ति नामक आगमों की व्याख्या सबसे पहले आचार्य भद्रबाहु ने ही की थी। वीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हुआ।

कुछ विद्वानों की राय में निर्युक्तियां परवर्ती द्वितीय भद्रबाहु के द्वारा रचित होनी चाहिए। पर वे कब और कौन हुए ? इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परवर्ती श्वेताम्बर ग्रंथों में एक भद्रबाहु का विवरण मिलता है, जो प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के भाई थे। और उन्होंने 'उवसमाहर' स्तोत्र की रचना की है। वराहमिहिर रचित 'संहिता' ज्योतिष का प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें जो रचनाकाल दिया हुआ है उसके अनुसार वराहमिहिर चौथी-पांचवीं शताब्दी में हुए थे। अतः द्वितीय भद्रबाहु-परंपरा के अनुसार वराहमिहिर के भाई होने से पांचवीं शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं। इन भद्रबाहु द्वारा वराहमिहर संहिता की तरह 'भद्रबाहुसंहिता' नामक ग्रंथ बनाने की प्रसिद्धि है।

'भद्रबाहुसंहिता' प्राकृत भाषा में रची गयी थी। यह अठारहवीं शताब्दी के महान जैन विद्वान मेघविजय उपाध्याय रचित वर्ष प्रबोध-मेघमहोदय नामक ग्रंथ में उद्धृत प्राकृत गाथाओं से सिद्ध होता है। चातुर्मास कुलक और तिथि-कुलक नामक रचना की उद्धृत गाथाएं प्राकृत की ही हैं। पर मूल भद्रबाहु संहिता प्राकृत में ही अभी तक पूर्ण रूप से कहीं प्राप्त नहीं हुई है। उसकी खोज की जानी चाहिए।

कुछ वर्ष पूर्व अजीमगंज का एक ज्ञान-भंडार कलकत्ते के जैन भवन में आया। उसकी एक हस्तलिखित प्रति में भद्रबाहु संहिता का अर्धकांड प्राकृत भाषा में लिखा हुआ मिला। यह प्रति प्राचीन नहीं है। संवत् १८९५ की लिखी हुई है और उसमें अन्य रचनाएं भी आगे-पीछे लिखी हुई हैं। अतः यह संग्रह-प्रति है, जो पुरानी प्रतियों के आधार से संकलित की गई लगती है। इसमें अर्धकांड की २० गाथाएं हैं। उनमें से प्रारंभ और अंत की गाथाएं नीचे दी जा रही हैं—

भद्रबाहु संहिताया अर्धकांडम्

आदि— नमिऊणतिलोअनाहं पणमामि सव्वागमनिहि वीरं।
वुच्छामि **अग्घकांडं** जह' कहियं जिणवरिंदेहिं ॥१॥

अंत— इय **अग्घ कंडसारं** पुन्निम निय रिक्खं संजोयं।
काल पयारं भणिओ जो जाणह सव्व दंसीओ ॥२०॥

इति पूर्णिमात्रिक नक्षत्र संयोगानां फलम्

मेघ विजय के मेघ महोदय से प्राप्त इन २० गाथाओं का मिलान करने से मालूम हुआ कि उनमें पाठ-भेद काफी है और उस ग्रंथ में वे एक जगह न होकर, कई स्थानों पर यथाप्रसंग उद्धृत की हुई हैं।

'भद्रबाहु संहिता' नामक एक ज्योतिष ग्रंथ संस्कृत में भी प्राप्त है और वह

सिंघी जैन ग्रंथमाला से सम्वत् २००५ में प्रकाशित भी हो चुका है। इस संस्करण के किंचित् वक्तव्य में मुनि जिनविजयजी ने प्रस्तुत संस्कृत भाषा के भद्रबाहु संहिता के सम्बन्ध में लिखा है कि प्राप्त अंश २६ अध्यायों का है। उसका ग्रंथ परिमाण १५६४ श्लोकों का है। सम्वतों के उल्लेख वाली प्राप्त प्रति सम्वत् १५०४ की लिखी हुई है। दूसरी प्रति इससे कुछ पहले की है पर दोनों प्रतियां किसी ताड़-पत्रीय प्रति की नकल-सी लगती हैं। अतः जिनविजयजी की राय में यह ग्रंथ करीब १००० वर्ष पुराना होना चाहिए। भद्रबाहु स्वामी ने स्वयं तो इसे नहीं रचा होगा, पर उनकी रचना के आधार से रचे जाने के कारण इस ग्रंथ का नाम 'भद्रबाहु संहिता' रख दिया प्रतीत होता है। इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में जो ग्रंथ की विषयसूची दी हुई है, उसके अनुसार तो इस ग्रंथ में ४० या ५० अध्याय होने चाहिए थे। अर्थात् प्राप्त २६ अध्याय वाला ग्रंथ अपूर्ण ही लगता है।

गत वर्ष भटनेर-हनुमानगढ़ के देवी मन्दिर से हमने बड़े ही प्रयत्नपूर्वक बड़-गच्छ के प्राचीन ग्रंथ-संग्रह को प्राप्त किया तो उसमें भद्रबाहु रचित 'जन्म प्रदीप' नामक ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति सम्वत् १७४४ की लिखी हुई प्राप्त हुई। इसमें १२ अध्याय हैं और अंत में भद्रबाहु संहिता का भी उल्लेख है। यह रचना अभी तक अप्रकाशित होने से इसके आदि और अन्त के श्लोक नीचे दिये जा रहे हैं—

आदि— प्रणिपत्य परमज्योतिस्तेजो जगतीतले तमः शमनं
जन्म प्रदीप शास्त्रं भावाधिप भेदतो वक्ष्ये ।।१।।

अन्त— इति जिन धर्म धुरीणः ख्यातः **श्रीभद्रबाहुआचार्यः**
कृतवान् **जन्मविचारं** ज्योतिग्रन्थात् समूद्धृत्य ।।१३।।

इतिश्री जैनाचार्य श्री भद्रबाहु स्वामिना विरचिते ग्रह चक्र बलाबले भुवन विचार द्वादशमोध्याय समाप्तं।

इति **श्रीभद्र बाहो संहिता** मिथ्यात्नांनदैया कदापिन् ।।

सम्वत १७४४ वर्षे फागुण वदि ३ गुरौ लिखितमं मुनि रत्नसिंहेन। श्रीआसणी कोट मध्ये।

यादृशं पुस्तके दृष्टं, तादृशं लिखित्तंमय। यदि शुद्धमशुद्धं वा ममदौषोन दीयते ।।

बहुत खोज करने पर इस रचना की अन्य एक प्रति स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह में होना ज्ञात हुआ है। वह प्रति भी इसी शताब्दी की है और अभी ला० द० भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद में सुरक्षित हैं।

आ० हरिभद्रसूरि की अज्ञात रचना

संस्कृत भाषा का प्रभाव जब बहुत बढ़ गया तो जैनाचार्यों को भी संस्कृत में ग्रंथ लिखना आवश्यक लगा। प्राप्त जैन संस्कृत साहित्य में संभवतः सबसे पहला ग्रंथ आचार्य उमास्वाति रचित तत्वार्थसूत्र है, जिसे दूसरी शताब्दी की रचना

माना जाता है। उसके बाद तो जीवनोपयोगी प्रत्येक विषय के ग्रंथ जैनों द्वारा प्रचुर परिमाण में रचे गये। इससे पहले की सभी जैन रचनाएं प्राकृत भाषा की ही हैं।

आठवीं शताब्दी के महान् जैनाचार्य हरिभद्र सूरि बहुत प्रसिद्ध ग्रंथकार हैं, जिनकी रचनाओं की संख्या १४४४ बतलायी गयी है। उन्होंने ही सर्वप्रथम जैन आगमों की संस्कृत टीकाएं बनायीं और दर्शन, न्याय, धर्म, ज्योतिष, कथा आदि अनेक विषयों की रचनाएं बनायी हैं। योग सम्बन्धी आपकी रचनाएं भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी रचनाओं की भाषा प्राकृत एवं संस्कृत दोनों ही है। ये बड़े समन्वयशील उदार विचार वाले विद्वान् थे। इनकी बहुत-सी रचनाएं लुप्त हो गयी मालूम देती हैं। यद्यपि १४४४ की संख्या विचारणीय है, अभी तो इनकी रचनाएं १०० से भी कम संख्या में प्राप्त हैं, जिनकी सूची प्रकाशित हो चुकी है। आपकी प्राय: सभी उपलब्ध रचनाएं छप भी चुकी हैं।

आचार्य हरिभद्र राजस्थान के ही महान् विद्वान् थे। वे चित्तौड़ के राज-पुरोहित या पुरोहित-पुत्र बतलाये जाते हैं। उन्होंने अपने 'धूर्तास्थान' नामक विशिष्ट और विनोद प्रधान ग्रंथ की प्रशस्ति में 'चित्तौड़' का उल्लेख भी किया है। जैन याकिनी महत्तरा नामक साध्वी रत्न से आपको जैन धर्म में दीक्षित होने की प्रेरणा मिली थी। अत: आपने उनके महान् उपकार की स्मृति में अपने ग्रंथों की प्रशस्तियों में अपने को 'याकिनी महत्तरा स्यनु' बतलाया है।

श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार उनका समय छठी शताब्दी माना जाता था पर मुनि जिनविजयजी ने बड़ी खोजबीन के साथ इनका समय आठवीं शताब्दी सिद्ध किया है। पंडित सुखलालजी ने आचार्य हरिभद्र की महान देन के सम्बन्ध में कई भाषाण दिए तथा ग्रंथ एवं लेख लिखे हैं, जिनमें 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' नामक ग्रंथ विशेप रूप में द्रष्टव्य है।

मुनि जिनविजयजी ने चित्तौड़ में 'हरिभद्र सूरि स्मृति मंदिर' बनवाना प्रारंभ किया था जिसे जिनदत्त सूरि सेवा संघ ने अपने हाथ में लेकर पूरा बनवाया व गत वर्ष प्रतिष्ठा भी करवा दी है। इस हरिभद्र सूरि स्मृति मंदिर में याकिनी महत्तरा और हरिभद्र की बहुत ही सुन्दर मूर्तियां स्थापित की गई हैं। साथ ही आचार्य जिनवल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि आदि की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित की गई हैं।

ऐसे महान् आचार्य की कुछ रचनाओं का उल्लेख सम्वत् १२९५ में सुमति-गणि रचित गणधर साहर्द शतक की वृहद वृत्ति में भी पाया जाता है। इनमें से कुछ अब अप्राप्त हो गयी हैं। हरिभद्र नाम के और भी कई आचार्य पीछे की शताब्दियों में हो गये हैं और उनके भी कई ग्रंथ प्राप्त हैं। पर जिन रचनाओं के अन्त में 'याकिनी महत्तरा' के पुत्र रूप में उल्लेख है वे तो सुप्रसिद्ध आठवीं शताब्दी

के प्रथम हरिभद्र सूरि की रचना होना निश्चित हो जाता है।

गत वर्ष जो बडगच्छीय प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रह को हमने अपने ग्रंथालय में विशेष प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया था उनमें आचार्य हरिभद्र का भी एक अज्ञात ग्रंथ भी प्राप्त हुआ। इससे हमें बड़ी ही प्रसन्नता हुई और उसी का संक्षिप्त विवरण यहां दिया जा रहा है।

इस ग्रंथ का नाम है **'उपसर्गहर स्तव प्रबंध'**। १६५ संस्कृत श्लोकों वाली इस रचना की प्रति ६ पत्रों की है और सत्रहवीं शताब्दी की लिखी हुई है।

पहले जिन युगप्रधान आचार्य भद्रबाहु के उवसग्गहरं स्तोत्र का उल्लेख किया गया है, उसी की व्याख्या या महात्मय की कथा के रूप में आचार्य हरिभद्र की प्रस्तुत प्राप्त रचना है। अभी तक इस रचना का कहीं भी उल्लेख किया गया, जानने में नहीं आया। अतः सर्वप्रथम इस अज्ञात और महत्त्वपूर्ण रचना का परिचय यहीं पाठकों को दिया जा रहा है। इस रचना के १०६वें श्लोक की एक पंक्ति प्रति के लेखक से लिखने में छूट गयी है अतः संपादन के लिए मूल प्रति की आवश्यकता है ही।

'उवसग्गहरं स्तव' भगवान् पार्श्वनाथ से सम्बन्धित प्राकृत भाषा में रची हुई पांच गाथाओं की रचना है। यद्यपि इस स्तोत्र की एक गाथा (छठी) रचयिता भद्रबाहु ने स्वयं भंडार अर्थात् गुप्त कर दी, ऐसा प्रवाद है। पर आचार्य हरिभद्र की इस रचना में तो पांच गाथाओं का ही उल्लेख है। प्रारम्भ, मध्य और अंत के कुछ श्लोक नीचे दिये जा रहे हैं—

आदि— पयोधाविव सश्रीके पूरे विजय पूर्वके।
सूर वत्कमलोल्लासी नृपः मूराङ्गदोऽभवत् ॥१॥
वीराङ्गद सुतस्तस्य महावीर शिरोमणिः।
सुमित्रो नाम तन्मित्रं स्वदेह इव वल्लभ ॥२॥

मध्ये— पठत्वं जगती स्वामिन्नुपसर्ग्गहिरं स्तंवम्।
श्रीमतः पार्श्वनायस्य सा भाणीदितिकोमरहम् ॥६७॥
उवसग्गहरं पासं, पासं वंदामि कम्म
इत्यादि **पंच गाथा** यावत्
पार्श्वनाथ स्तव पाठेबोय शान्ते पावकाच्चिषि।
उत्ततार नृपो रण्यं शीतलं जल सिक्तवत् ॥६८॥

अन्त— युगप्रधान **श्रीभद्रबाहु** स्वामिना व्यन्तरस्ततः।
बोधितस्तेन लेप्येव कारिता प्रतिपार्हतः ॥६३॥
इदं च कथितं स्तोत्र **मुपसर्गहिराभिन्धम**।
अधापि पच्चतेशश्वत्प्रभावैक निबन्धम् ॥६४॥

जाकिनी धर्मपुत्रस्य श्रीहरिभद्र कृता कथा।
उपसर्ग हरस्तोत्र व्याख्यान दय मुग्धे ।।६५।।
इतिश्री **उपसर्गहर स्तव प्रबन्ध** समाप्त:.

आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र जैसे प्रसिद्ध और उल्लेखनीय ग्रंथकारों की भी बहुत-सी रचनाएं अप्राप्त हो गयी हैं। कुछ का तो मध्यकालीन साहित्य में उल्लेख भी मिलता है। किसी-किसी रचना का तो उद्धरण भी पाया जाता है। फिर भी उनकी प्रतियां प्राप्त नहीं होतीं। अभी तक बहुत से जैन ज्ञान भंडार अज्ञात अवस्था में पड़े हैं। कई व्यक्तिगत आचार्यों, मुनियों आदि की देखरेख में हैं। उनकी आज्ञा के बिना उन्हें देखा नहीं जा सकता। ऐसे ज्ञान भंडारों में कई ऐसी प्रतियां भी मिल जाती हैं, जिनमें लिखे हुए ग्रंथ अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते। अर्थात् कुछ रचनाओं की प्रतिलिपियां अधिक नहीं हुई। एक-दो ही प्रतियां बची रह गईं। वे उन ग्रंथ भंडारों के अतिरिक्त कहीं मिलती नहीं। कई ग्रंथ भंडारों की विवरणात्मक सूचियां नहीं बनी। पुरानी ढंग की सूचियां ही मिलती हैं, जिनमें ग्रंथ का नाम और पत्र संख्या ही लिखी रहती है, रचयिता का नाम नहीं लिखा रहता। और एक ही नाम वाले ग्रंथ कई ग्रंथकारों के बनाये हुए पाये जाते हैं। अत: अज्ञात ग्रंथकार और उनकी रचनाओं का पता लगाना बहुत ही मुश्किल होता है।

जैन दर्शन में अहिंसा

•

डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल

'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा को परम धर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी बहु प्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परम धर्म है, पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? साधारण भाषा में अहिंसा शब्द का अर्थ होता है हिंसा न करना। किंतु जब भी हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है, तो हमारा ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना, या उनकी रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा-अहिंसा का संबंध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है; ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है किंतु यह एकांगी दृष्टिकोण है। अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ केवल विष भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते हैं। उसके अन्तर्तम तक पहुंचने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। अन्तर में राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना भी हिंसा है यह बहुत कम लोग जानते हैं। प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचंद्र ने अंतरंग पक्ष को लक्ष्य में रखते हुए हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं—

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।"[1]

आत्मा में राग-द्वेष-मोहादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और इन भावों का आत्मा में उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है। यही जिनागम का सार है।

उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए आचार्यकल्प पंडित टोडरमल ने लिखा है—

"अपने शुद्धोपयोगरूप प्राण का घात रागादिक भावनि तैं होय है। तिसतैं रागादिक भावनि का अभाव सोई अहिंसा है। आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादिक समस्त विभाव भाव जानने।"[2]

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपायः आचार्य अमृतचंद्र, श्लोक ४४।
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका, पृ० ३४

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर जीवों का मरना-मारना हिंसा नहीं है और उनकी रक्षा करना अहिंसा नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें जीवन और मरण के स्वरूप के विषय में विचार करना होगा।

'मरणं प्रकृति शरीरिणां' की सूक्ति के अनुसार यह एक स्थापित सत्य है कि जो जन्म लेता है वह एक-न-एक दिन मरता अवश्य है। शरीरधारी अमर नहीं है। समय आने पर या तो वह दूसरे प्राणी द्वारा मार डाला जाता है या स्वयं मर जाता है। अतः यदि मृत्यु को हिंसा मानें तो कभी भी हिंसा की समाप्ति नहीं होगी तथा यदि मरने का नाम हिंसा हो तो जीने का नाम अहिंसा होगा। लोक में भी यथासमय बिना बाह्य कारण के होने वाली मृत्यु को हिंसा नहीं कहा जाता है और न सहज जीवन को अहिंसा ही। इसी प्रकार बाढ़, भूकंप आदि प्राकृतिक कारणों से भी हज़ारों प्राणी मर जाते हैं किंतु उसे भी हिंसा के अन्तर्गत नहीं लिया जाता है, अतः मरना हिंसा और जीवन तो अहिंसा नहीं हुआ। जहां तक मारने और बचाने की बात है, उसके संबंध में आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कथनों की ओर ध्यान देना होगा—

"जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२४७।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ।।२४८।।
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ।।२४९।।
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२५०।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ।।२५१।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ।।२५२।।"[1]

जो यह मानता है कि मैं परजीवों को मारता हूं और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीवों का मरण आयु कर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है। तुम परजीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो, फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है, परजीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

---

१. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द—गाथा २४७-२५२

जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूं, और परजीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं वह मूढ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। तुम परजीवों को आयुकर्म तो नहीं देते तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं, तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

उक्त कथन का निष्कर्ष देते हुए अन्त में लिखते हैं—

"जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदोणो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।।२५८।।"[1]

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मोदय से होता है। अतः 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है। और जो न मरता है और न दुःखी होता है, वह भी वास्तव में कर्मोदय से ही होता है। अतः 'मैंने नहीं मारा, दुःखी नहीं किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ? अवश्य ही मिथ्या है।

उक्त सम्पूर्ण कथन को आचार्य अमृतचन्द्र ने दो छन्दों में निम्नानुसार अभिव्यक्त किया है—

"सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय—
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानामेतदिह यत्तु पर - परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःख सौख्यम् ।।१६८।।
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ।।१६९।।"[2]

इस जगत् में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख, यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होते हैं। "दूसरा पुरुष इसके जीवन-मरण, दुःख-सुख का कर्ता है" यह मानना तो अज्ञान है।

जो पुरुष पर के जीवन, मरण, सुख, दुःख का कर्ता दूसरे को मानते हैं, अहंकार

१. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द—गाथा २५७-२५८
२. समयसारकलश—आचार्य अमृतचन्द्र—कलश १६८-१६९

रस से कर्मोदय को करने के इच्छुक वे पुरुष नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

उक्त कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों को यह कदापि स्वीकार्य नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मार या बचा सकता है, अथवा दुःखी या सुखी कर सकता है। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता और मरते को बचा नहीं सकता है तो फिर "मारने का नाम हिंसा और बचाने का नाम अहिंसा" यह कहना क्या अर्थ रखता है ?

द्रव्य स्वभाव से आत्मा की अमरता एवं पर्याय के परिवर्तन में स्वयं के उपादान एवं कर्मोदय को निमित्त स्वीकार कर लेने के बाद एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी का वध और रक्षा करने की बात में कितनी सच्चाई रह जाती है ? यह एक सोचने की बात है। अतः यह कहा जा सकता है कि न मरने का नाम हिंसा है, न मारने का। इसी प्रकार न जीने का नाम अहिंसा है, न जिलाने का।

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का संबंध परजीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से है। परजीवों के मरने-मारने का नाम हिंसा नहीं, वरन् मारने के भाव का नाम हिंसा है। जैन शास्त्रों में जो परजीवों के मारने, सताने आदि को भी हिंसा कहा गया है, उसे व्यवहार हिंसा के अर्थ में समझना चाहिए।

हिंसा के दो भेद करके भी समझाया गया है—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। रागादि भावों के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और रागादि भाव है निमित्त जिसमें ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है। यदि कोई व्यक्ति राग-द्वेषादि भाव न करे तथा योग्यतम आचरण रखे किंतु सावधानी रखने पर भी यदि उसके निमित्त से परजीव का घात हो जाए तो भी हिंसा नहीं है। इसके विपरीत कोई जीव रागादि रूप प्रवर्ते, आत्मा में असावधान रहे, यदि उसके निमित्त से परजीवों का घात न भी हो, तो भी वह हिंसक है। क्योंकि हिंसा का मूल कारण रागादि भावरूप प्रमाद परिणति है, परजीवों का जीवन-मरण नहीं।

यथा—

> सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
> हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ।।४९।।[1]

यद्यपि परवस्तु के कारण रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती है तथापि परिणामों की शुद्धि के लिए हिंसा के स्थान परिग्रहादि को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि जीव चाहे मरे या न मरे अयत्नाचार (अनर्गल) प्रवृत्तिवालों को तो बंध होता ही है। कहा भी है—

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र, श्लोक ४९

व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद और सामाजिक तथा आत्म-शांति के क्षेत्र में अल्प परिग्रह या अपरिग्रह के रूप में प्रकट होती है। ये सब परस्पर अन्तःसंबद्ध हैं। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पाप भी हिंसा के ही रूपान्तर हैं। क्योंकि तत्संबंधी भाव भी राग-द्वेष रूप होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

आत्मा के शुद्ध परिणामों के घात होने से झूठ, चोरी आदि सभी हिंसा ही हैं, भेद करके तो मात्र शिष्यों को समझाने के लिए कहे गए हैं।

हिंसा-अहिंसा का संबंध सीधा आत्मपरिणामों से है। वे दोनों आत्मा के ही विकारी-अविकारी परिणाम हैं। जड़ में उनका जन्म नहीं होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाए और उससे उसका मरण हो जाए तो पत्थर को हिंसा नहीं होती किंतु कोई प्राणी किसी को मारने का विकल्प करे तो उसे हिंसा अवश्य होगी, चाहे पर प्राणी मरे या न मरे। हिंसा-अहिंसा जड़ में नहीं होती, जड़ के कारण भी नहीं होती। उनका उत्पत्ति स्थान व कारण दोनों ही चेतन में विद्यमान हैं। वस्तुतः चिद्विकार ही हिंसा है, झूठ, चोरी आदि चिद्विकार हैं अतः हिंसा है।

व्यवहार में जिसे हिंसा कहते हैं जैसे किसी को सताना, दुःख देना आदि वह हिंसा न हो, यह बात नहीं है। वह तो हिंसा है ही, क्योंकि उसमें प्रमाद का योग रहता है। आचार्य उमास्वामी ने कहा है—'प्रमत्त योगात् प्राणाव्यपरोपणं हिंसा,' प्रमाद के योग से प्राणियों के द्रव्यभाव प्राणों का घात होना हिंसा है। उनका प्रमाद से आशय मोह-राग-द्वेष आदि विकारों से ही है। अतः उक्त कथन में द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है। परंतु हमारा लक्ष्य प्रायः बाह्य हिंसा पर केंद्रित रहता है, अंतरंग में होनेवाली भाव हिंसा की ओर नहीं जा पाता है। अतः यहां पर विशेषकर अंतरंग में होनेवाली रागादि भाव रूप भाव हिंसा की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। जिस जीव के बाह्य स्थूल हिंसा का भी त्याग नहीं होगा वह तो इस अन्तर की हिंसा को भली प्रकार समझ भी नहीं सकता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है पर मंद राग को हिंसा क्यों कहते हो? किंतु जब राग हिंसा है तो मंद राग अहिंसा कैसे हो जाएगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मंद राग मंद हिंसा है और तीव्र राग तीव्र हिंसा है अतः यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं तो उसे मंद तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

एक यह प्रश्न भी संभव है कि ऐसी अहिंसा तो साधु ही पाल सकते हैं, अतः यह तो उनकी बात हुई। सामान्य जनों (श्रावकों) को तो दया रूप (दूसरों को बचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है। आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण में ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा दो प्रकार की नहीं होती। अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर दो हो सकते हैं। हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। यदि श्रावक पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड़ न सके उसे अहिंसा तो नहीं माना जा सकता है। यदि हम पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकते तो अंशतः त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सके तो कम-से-कम हिंसा को धर्म मानना और कहना तो छोड़ना ही चाहिए। शुभ राग, राग होने से हिंसा में आता है और उसे धर्म नहीं माना जा सकता।

जैन दर्शन का अनेकान्तिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त अहिंसा के संबंध में यह आरोप भी नहीं लगाया जा सकता है कि उक्त अहिंसा को ही व्यावहारिक जीवन में उपादेय मान लेंगे तो फिर देश, समाज, घर-वार, यहां तक कि अपनी मां-बहन की इज्जत बचाना भी संभव न होगा क्योंकि गृहस्थों के जीवन में अहिंसा और हिंसा का क्या रूप विद्यमान रहता है, इसका विस्तृत वर्णन जैनाचार ग्रंथों में मिलता है तथा उसके प्रायोगिक रूप के दर्शन जैन पुराणों के परिशीलन से किये जा सकते हैं। यहां उसकी विस्तृत समीक्षा के लिए अवकाश नहीं है। गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा और अहिंसा को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने हिंसा का वर्गीकरण चार रूपों में किया है—

१. संकल्पी हिंसा
२. उद्योगी हिंसा
३. आरंभी हिंसा
४. विरोधी हिंसा

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु है जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा)-पूर्वक किया गया प्राणघात ही संकल्पी हिंसा है। व्यापारादि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी बरतते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी और आरंभी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज, देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है। उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है किंतु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है, यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, वह किसी दूसरे पर बिना कारण आक्रमण नहीं करता, अपनी रक्षा-हेतु ही लड़ता है, यदि रक्षा-हेतु आक्रमण आवश्यक हो तो, आक्रमण करने के भाव भी उसके होते देखे जाते हैं। आरंभ और

उद्योग में भी पूरी-पूरी सावधानी रखता है तथापि उसका आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना संभव नहीं है।

महापंडित आशाधरजी ने लिखा है कि—

आरंभेऽपि सदा हिंसा सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैःपापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥[1]

आरंभी आदि हिंसा के विद्यमान रहने पर भी बुद्धिमान श्रावक को संकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि कृषक द्वारा जीवों के घात होने पर भी संकल्प के अभाव में मछलियों के घात का संकल्प करने वाले धीवर को, चाहे उसके जाल में मछली मरे ही नहीं, अधिक हिंसा होती है।

यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है तथापि वह उसे उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता। गृहस्थ का व्यक्तित्व द्वैध व्यक्तित्व होता है। उसकी श्रद्धा तो पूर्ण अहिंसक होती है और जीवन भूमिकानुसार।

कोई व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा को कितना उतार पाता है, कितना नहीं, यह एक अलग प्रश्न है और हिंसा और अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह एक स्वतंत्र विचारणीय वस्तु है। इस तथ्य को विचारकों को नहीं भूलना चाहिए।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि, राग-द्वेष-मोह भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और उन्हें धर्म मानना महाहिंसा तथा रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही परम अहिंसा है और रागादि भावों को धर्म नहीं मानना ही अहिंसा के संबंध में सच्ची समझ है।

१. सागारधर्मामृत—अध्याय २, श्लोक ८२

भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दर्शन का योगदान

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

भारतीय प्रमाणशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं—(१) प्रमाण का स्वरूप, (२) प्रमाण के भेद, (३) प्रमाण का विषय और (४) प्रमाण का फल। जैन दार्शनिकों ने न केवल प्रमाण का स्वरूप निर्धारण करने में प्रत्युत उसके भेद-प्रभेद, विषय और फल के विवेचन में भी एक विशेष दृष्टि दी है।

प्रमाण के स्वरूप के विषय में भारतीय प्रमाणशास्त्र में मुख्य रूप से दो दृष्टियां उपलब्ध होती हैं—

१. ज्ञान को प्रमाण मानने वाली।

२. इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानने वाली।

जैन और बौद्ध परम्परा में ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दोनों में अन्तर यह है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को।

दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनों की है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक—सभी किसी न किसी रूप में इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानते हैं।

जैन दार्शनिकों ने सभी की सदोषता का प्रतिपादन करके सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का स्वरूप निश्चित किया है।

इसी प्रकार प्रमाण के भेदों के विषय में भी जैन दार्शनिकों ने एक विशेष दृष्टि दी है। उन्होंने प्रमाण के मूल रूप में दो भेद बताए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम—ये पांच भेद किए हैं। दर्शनान्तरों में स्वीकृत अन्य भेदों को इन्हीं के अन्तर्गत समाहित किया गया है।

इस सन्दर्भ में एक विशेष बात यह है कि सामान्य रूप में दर्शनान्तरों में जिस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, उसे जैन दार्शनिकों ने परोक्ष कहा है तथा दर्शनान्तरों में जिसे परोक्ष माना है उसे जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष माना है। प्रत्यक्ष की यह चर्चा न केवल भेदों के निर्धारण में प्रत्युत प्रमाण के स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से

भी महत्त्वपूर्ण है। इसलिए यहां प्रत्यक्ष के विशेष सन्दर्भ में भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दार्शनिकों की देन का मूल्यांकन किया गया है।

नैयायिकों का प्रत्यक्ष प्रमाण

नैयायिक इन्द्रियसन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं। वात्स्यायन ने न्याय-भाष्य (१.१.३) में प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है—"अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः। यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।"

उद्योतकर ने भी न्यायवार्तिक (१.१.३) में वात्स्यायन के भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर इसका प्रबल समर्थन किया है।

न्यायसूत्र की व्याख्या में वाचस्पति का भी वही तात्पर्य है—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" (न्याय० १.१.४)

न्यायभाष्य (पृ० २५५) तथा न्यायमंजरी (पृ० ७३, ४७६) में इसका विस्तृत विवेचन है।

सन्निकर्षवादी नैयायिकों का कहना है कि अर्थ का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है। चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर ही घट का ज्ञान होता है। जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियों से असन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान भी ज्ञान माना जाएगा, तो सबको सब पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु देखा जाता है कि जो पदार्थ दृष्टि से ओझल होते हैं, उनका ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक है, और कारक दूर रहकर अपना काम नहीं कर सकता। अतएव यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय जिस पदार्थ से सम्बन्ध नहीं करती, उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, जैसे बढ़ई का वसूला लकड़ी से दूर रहकर अपना काम नहीं करता। जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पदार्थ को छूकर जानती है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी पदार्थ संस्पृष्ट होकर जानती हैं।

सन्निकर्ष के भेद (न्यायवा० पृ० ३१, न्यायमं० पृ० ७२)

सन्निकर्ष के छह भेद हैं—(१) संयोग, (२) संयुक्त-समवाय, (३) संयुक्त-समवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय, (६) विशेषणविशेष्यभाव।

इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. संयोग सन्निकर्ष : चक्षु का घट आदि पदार्थों के साथ संयोग सन्निकर्ष है।

२. संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष : घट आदि में समवाय सन्निकर्ष से रहने वाले

गुण, कर्म आदि पदार्थों के साथ संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है।

३. संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष : घट आदि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण, कर्म आदि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणत्व, कर्मत्व आदि के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

४. समवाय सन्निकर्ष : श्रोत का शब्द के साथ समवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि कान के छिद्र में रहने वाले आकाश का ही नाम श्रोत्र है। शब्द आकाश का गुण है, इसलिए वहां समवाय सन्निकर्ष से रहता है।

५. समवेतसमवाय सन्निकर्ष : शब्दत्व के साथ समवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

६. विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष : यह घर घटाभाव वाला है। इसमें विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है, क्योंकि घर विशेष्य है और उसका विशेषण घटाभाव है।

प्रत्यक्षज्ञान में सन्निकर्ष की प्रवृत्ति-प्रक्रिया (न्यायमं० पृ० ७४)

प्रत्यक्षज्ञान चार, तीन अथवा दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। बाह्य रूप आदि का प्रत्यक्ष चार के सन्निकर्ष से होता है। आत्मा मन से सम्बन्ध करता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से। सुखादि का प्रत्यक्ष तीन के सन्निकर्ष से होता है। इसमें इन्द्रिय काम नहीं करती। योगियों को जो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, वह दो के सन्निकर्ष से होता है। वह केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होता है।

नैयायिकों के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा

नैयायिकों के इस प्रत्यक्ष लक्षण का निरास जैन तार्किकों ने विस्तार के साथ किया है (न्यायकुमु० पृ० २५-३२, प्रमेयक० पृ० १४-१८)। संक्षेप में वह इस प्रकार है –

१. वस्तु का ज्ञान कराने में सन्निकर्ष साधकतम नहीं है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। जिसके होने पर ज्ञान हो तथा नहीं होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है। सन्निकर्ष में यह बात नहीं है। कहीं-कहीं सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष रहता है, फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

२. सभी इन्द्रियां छूकर जानती हों, यह बात नहीं है। चक्षु छूकर नहीं जानती। यदि छूकर जानती, तो आंख में लगे हुए अंजन को देखना चाहिए, किन्तु नहीं देखती। इसी प्रकार यदि छूकर जानती तो ढकी हुई वस्तु को नहीं जानना चाहिए, पर ऐसा नहीं है। कांच आदि पारदर्शी द्रव्य से ढंकी हुई वस्तु को वह जान लेती है। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नहीं है। जैन दार्शनिकों ने चक्षु के प्राप्य-कारित्व का विस्तार से खण्डन किया है (तत्वा० रा० वा० पृ० ४८, न्यायकु०

पृ० ७५-८२, प्रमेयक० पृ० २२०-२२६)।

३. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सर्वज्ञ सन्निकर्ष द्वारा पदार्थों को जानेगा, तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य। मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने विषयों में क्रमशः होती है तथा उनका विषय भी नियत है, जबकि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थों का अन्त नहीं है। सूक्ष्म, अन्तरित तथा व्यवहित पदार्थों का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः उनका ज्ञान भी नहीं होगा। इस तरह सर्वज्ञ का अभाव हो जाएगा (सर्वार्थ० पृ० ५७, तत्वा० पृ० ३६, न्यायकु० पृ० ३२)।

उपर्युक्त दोषों के कारण इन्द्रियादि के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जरन्नैयायिकों का प्रत्यक्ष-लक्षण

जरन्नैयायिकों की मान्यता है कि अर्थ का ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता, प्रत्युत कारकों के समूह से होता है। एक-दो कारकों के होने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और समग्र कारकों के रहने पर नियम से होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम कारण है। अतएव वही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो फल है। फल को प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण और फल भिन्न-भिन्न होते हैं। न्यायमंजरीकार ने लिखा है---"अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री-प्रमाणम्।" —न्यायमंजरी पृ० १२।

समीक्षा

कारकसाकल्य की उपयोगिता को स्वीकारते हुए भी जैन दार्शनिकों ने विशेष रूप से इसका खण्डन किया है (न्यायकु० पृ० ३५-३६, प्रमेयकमल० पृ० ७-१३)। उनका कहना है--

१. कारकसाकल्य ज्ञान की उत्पत्ति में कारण अवश्य है, पर अर्थोपलब्धि में तो ज्ञान ही कारण है। इसलिए कारकसाकल्य को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता।

२. यदि परम्परा-कारणों को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण माना जाएगा तो जिस आहार या गाय के दूध से इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है, वह आहार तथा दूध देने वाली गाय को भी साधकतम कारण मानना होगा। इस तरह कारणों का कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जाएगा।

सांख्य का प्रत्यक्ष-लक्षण

सांख्य परम्परा में प्रत्यक्ष लक्षण के मुख्य तीन प्रकार हैं। पहला विन्ध्यवासी के लक्षण का, जिसे वाचस्पति ने वार्षगण्य के नाम से निर्दिष्ट किया है (तात्पर्य० पृ० १५५)। दूसरा ईश्वरकृष्ण के लक्षण का (सांख्यकारिका ५) तथा तीसरा सांख्यसूत्र (१.८९) के लक्षण का।

हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा (पृ० २४) में वृद्ध-सांख्यों का प्रत्यक्ष लक्षण इस प्रकार दिया है —

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्" इति वृद्धसांख्याः।

ईश्वरकृष्ण का लक्षण इस प्रकार है—

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्।" —सांख्यका० ५

माठरवृत्ति (पृ० ४७) तथा योगदर्शन व्यासभाष्य (पृ० २७) में इस प्रत्यक्ष का विस्तार से विवेचन किया गया है।

सांख्यों की मान्यता है कि अर्थ की प्रमिति में इन्द्रियाधीन अन्तःकरण वृत्ति ही साधकतम है, अतः उसी को प्रमाण मानना चाहिए। वह जब विषय के आकार परिणमन करती है तभी अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती है। इस प्रकार पदार्थ का सम्पर्क होने से पहले इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण का विषयाकार होने से वृत्ति ही प्रमाण है। योगदर्शन व्यासभाष्य में लिखा है —

"इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य
विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम।" —योगद० व्यासभा० पृ० २७

उक्त वृत्ति की प्रक्रिया के विषय में सांख्यप्रवचनभाष्यकार ने लिखा है—

"अत्रेयं प्रक्रिया इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिंगज्ञानादिना वा आदौ
बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।" —सांख्यप्र० भा० पृ० ४७

सांख्य के प्रत्यक्ष की समीक्षा

बौद्ध, जैन तथा नैयायिक तार्किकों ने सांख्यों के प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (१.२७) में, नैयायिक उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) में, जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (पृ० १०९) में तथा जैन तार्किक अकलंक ने न्यायविनिश्चय (१.१६५) में, विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८७) में, प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४०-४१) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १९) में, देवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७२) में तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा (पृ० २४) में इन्द्रियवृत्ति का विस्तार से निरास किया है, जिसका संक्षिप्त सार यह है—

१. अन्तःकरणवृत्ति अचेतन है, इसलिए वह पदार्थ को जानने में साधकतम

नहीं हो सकती।

२. अन्तःकरण का पदार्थ के आकार होना प्रतीति विरुद्ध है। जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, वैसे अन्तःकरण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता नहीं देखा जाता।

३. अन्तःकरण वृत्ति यदि अन्तःकरण से भिन्न है तो उसका अन्तःकरण से सम्बन्ध नहीं बनता और यदि अभिन्न है तो सुप्तावस्था में भी इन्द्रिय एवं अन्तःकरण व्यापार जारी रहना चाहिए।

इन कारणों से अन्तःकरण वृत्ति प्रमाण नहीं है।

मीमांसकों का प्रत्यक्ष-लक्षण

मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय सूत्र में मिलता है—

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म
तत्प्रत्यक्षभनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।

—जैमिनीय सूत्र १.१.४

जैमिनी सूत्र पर शाबरभाष्य आदि कई टीकाएं हैं, जिनमें इस लक्षण का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन है। भवदास की व्याख्या में इस सूत्र को प्रत्यक्ष-लक्षण का विधायक माना गया है (श्लोकवा० न्याय० प्रत्यक्ष० श्लोक १)। अन्य व्याख्याओं में इस लक्षण को अनुवादक माना गया है (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लोक १६)। शाबर भाष्य (१.१.५) में इस सूत्र के शाब्दिक विन्यास में मतभेद रखकर पाठान्तर मानने वाली वृत्ति का भी उल्लेख है। कुमारिल ने पहले प्रचलित सभी मान्यताओं का खंडन करके अपने ढंग से उसे अनुवाद रूप प्रतिपादित किया है (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० १-३६)। इस प्रकार मीमांसक ज्ञातृव्यापार को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञातृव्यापार के बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमें क्रिया होती है, आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थ का मेल होने पर ज्ञाता का व्यापार होता है और वह व्यापार ही पदार्थ का ज्ञान कराने में कारण होता है। अतः ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है (मीमांसा श्लो० पृ० १५१, शास्त्रदी० पृ० २०२)।

मीमांसकों के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा

मीमांसकों की इस मान्यता का खंडन वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी तार्किकों ने किया है। वैदिक परम्परा में उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) में, वाचस्पति ने तात्पर्यटीका (पृ० १५५) में तथा जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (पृ० १००) में विस्तार से खंडन किया है। बौद्ध दार्शनिकों में सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-

समुच्चय (१.३७) में इसका खंडन किया है। शान्तरक्षित आदि ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

जैन परम्परा में अकलंक, विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७ श्लो० ३७), प्रभाचन्द्र (न्यायकु० पृ० ४२-४५, प्रमेय० पृ० २०-२५), अभयदेव (सन्मति० पृ० ५३४), हेमचन्द्र (प्रमाणमी० पृ० २३) तथा देवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३८१) ने ज्ञातृव्यापार का विस्तार से खंडन किया है। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है--

१. ज्ञातृव्यापार किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता इसलिए वह प्रमाण नहीं है।
२. प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता। क्योंकि न तो ज्ञातृ-व्यापार का सम्बन्ध है और न मीमांसक स्वसंवेदन को मानते हैं।
३. अनुमान प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें साधन से साध्य का ज्ञान रूप अनुमान नहीं बनता।
४. अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का साध्य के साथ सम्बन्ध नहीं बनता।
५. प्रमाणों से सिद्ध न होने पर भी ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानना उपयुक्त नहीं है।

बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण

प्रत्यक्ष-लक्षण की दो धाराएं

बौद्ध न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष-लक्षण की दो परम्पराएं देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्त पद-रहित और दूसरी अभ्रान्त पद-सहित। पहली परम्परा के पुरस्कर्ता दिङ्नाम हैं तथा दूसरी के धर्मकीर्ति। प्रमाणसमुच्चय (१.३) और न्यायप्रवेश (पृ० ७) में पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्या है। न्यायबिन्दु (१.४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्ति में दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह (का० १२१४) में दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।" —न्यायवि० १.४

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

अभ्रान्त पद के ग्रहण या अग्रहण करने वाली दोनों परम्पराओं में प्रत्यक्ष को

निर्विकल्पक माना गया है। बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष में शब्द-संसृष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, और वह क्षणिक है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है।

क्षणभंगवाद

बौद्धों की इस मान्यता की पृष्ठभूमि में उनका दार्शनिक सिद्धान्त क्षणभंगवाद है। 'सर्वं क्षणिकम्'—सब कुछ क्षणिक है—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षण को ग्रहण करता है उसमें कल्पना उत्पन्न हो, इसके पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए वह सविकल्पक नहीं हो सकता।

इन्द्रियज्ञान में तदाकारता का अभाव

बौद्धों का कहना है कि अर्थ में शब्दों का रहना सम्भव नहीं है और न अर्थ और शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध ही है। इसलिए अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग नहीं रह सकता। क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता वह उसके आकार को धारण नहीं कर सकता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनक रूप आदि के आकार को धारण नहीं करता। इन्द्रियज्ञान केवल नील आदि अर्थ से उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह शब्द के आकार को धारण नहीं कर सकता। इस प्रकार शब्द के आकार को धारण न करने के कारण वह शब्दग्राही नहीं हो सकता। जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं हो सकता। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

निर्विकल्पक ज्ञान और लोक-व्यवहार

निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। अतः वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारों में कारण होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषय को लेकर ही पीछे के विकल्प उत्पन्न होते हैं। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बौद्धों के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा

बौद्धों की इस मान्यता का बौद्धेतर तर्क ग्रन्थों में विस्तार से खंडन किया गया है। भामह ने काव्यालंकार (५.६ पृ० ३२) और उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (१.१.४ पृ० ४१) में दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का तथा वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका (पृ० १५४), जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी (पृ० ५२), श्रीधर की न्यायकन्दली (पृ० १९०) और शालिकनाथ की प्रकरण-परीक्षा (पृ० ४७) में

धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा की गयी है।

जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनों के लक्षणों की समीक्षा की है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५), प्रभाचन्द ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४७) तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६) में एवं हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा (पृ० २३) में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विस्तार से खंडन किया है।

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रमाण वही कहलाता है जो निश्चयात्मक हो।

लोक-व्यवहार में साधक न होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से व्यवहार में अनुपयोगी है। जिस प्रकार मार्ग में चलते हुए तृणस्पर्श आदि का अनध्यवसाय रूप ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से लोक-व्यवहार में उपयोगी नहीं है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी अनुपयोगी है। अतएव वह प्रमाण नहीं हो सकता।

जैन सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण : दो परम्पराएं

जैन परम्परा में प्रत्यक्ष के लक्षण की दो परम्पराएं उपलब्ध होती हैं। पहली परम्परा मुख्य रूप से आगमिक मान्यताओं के आधार पर चली है। दूसरी परम्परा में आगमिक मान्यता तथा न्यायशास्त्र की मान्यता के समायोजन का प्रयत्न किया गया है। इस समग्र चर्चा का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

जैन आगमिक परम्परा में प्रत्यक्ष लक्षण और उसके भेद

जैन परम्परा में प्रमाण की चर्चा ज्ञान चर्चा से प्रारम्भ होती है। आगमिक सिद्धान्तों को संस्कृत सूत्र रूप में प्रस्तुत करने वाले आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान के पांच भेद बताकर प्रथम दो को परोक्ष तथा अन्य तीन को प्रत्यक्ष कहा है—

> "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।
> आद्ये परोक्षम्।
> प्रत्यक्षमन्यत्॥" —तत्वार्थ० सूत्र १.६, ११, १२

अवधिज्ञान आदि तीनों ज्ञानों की परिभाषाएं इस प्रकार हैं—

अवधिज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थों को जानता है वह अवधिज्ञान है। इसके मूल में दो

भेद हैं—भवप्रत्यय तथा क्षयोपशमनिमित्तक। क्षयोपशमनिमित्तक के वर्धमान, हीयमान आदि छह भेद हैं।

मन:पर्ययज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जान लेता है, वह मन: पर्ययज्ञान है। अवधिज्ञान की अपेक्षा यह ज्ञान अधिक विशुद्ध है, किन्तु यह केवल मनुष्यों के ही हो सकता है, जब कि अवधिज्ञान देव, नारकी आदि को भी हो सकता है। अवधिज्ञान मिथ्या भी होता, किन्तु मन:पर्यय-ज्ञान मिथ्या नहीं होता।

केवलज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना त्रिकालवर्ती रूपी-अरूपी सभी पदार्थों की सभी पर्यायों को युगपत जाने, वह केवलज्ञान है।

उपर्युक्त तीनों ज्ञान आत्मसापेक्ष ज्ञान हैं। इनमें इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं है। आत्मा की विशुद्धि के अनुसार इन ज्ञानों की प्रवृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों की ओर होती है।

केवलज्ञानी या सर्वज्ञ

केवलज्ञान-सम्पन्न आत्मा को जैनों ने सर्वज्ञ कहा है। जैन शास्त्रों में सर्वज्ञ-वाद का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। आगे संक्षेप में इस पर विचार करेंगे।

इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है

आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर जैन दार्शनिकों ने इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान की प्रत्यक्षता को अस्वीकार किया है। इस विषय में मुख्य तर्क ये हैं—

१. इन्द्रियां जड़ हैं जब कि ज्ञान चेतन है। जड़ से चेतन ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।
२. इन्द्रियां आत्मा से भिन्न हैं इसलिए 'पर' हैं। परसापेक्षज्ञान परोक्ष ही होगा, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।
३. इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान सीमित तथा क्रम से प्रवृत्ति करने वाला होता है।
४. इसलिए पर से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष तथा जो केवल आत्मा से जाना जाए वह प्रत्यक्ष है—

"जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं ।।

—प्रवचनसार गा० ५८

जैन दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष का लक्षण और भेद

दार्शनिक परम्परा के जैन ग्रन्थों में प्रत्यक्ष के लक्षण इस प्रकार मिलते हैं -

१. सिद्धसेन—

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशानु।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेच्छया ।।

—न्यायावतार, श्लो० ४

२. अकलंक—

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा।

—न्यायावि० श्लो० ३

३. माणिक्यनन्दि—

विशदं प्रत्यक्षम्। —परीक्षामुख सूत्र २.३

४. हेमचन्द्र—

विशदः प्रत्यक्षम्। —प्रमाणमी० १.१३

इस प्रकार दार्शनिक परम्परा में विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया। विशद का अर्थ अकलंक ने इस प्रकार दिया है—

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ।।

इसी को माणिक्यनन्दि ने इस प्रकार कहा है—

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेष्यवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।

—परीक्षा० सूत्र २।४

हेमचन्द्र ने लिखा है—

प्रमाणान्तरान्पेक्षेदन्तया प्रतिभासो च वैशद्यम्।

—प्रमाणमी० १।१४

प्रत्यक्ष की यह परिभाषा दार्शनिक युग के घात-प्रतिघात का परिणाम प्रतीत होती है। क्योंकि जैन और बौद्ध को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों में इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है जब कि जैनों ने उसे परोक्ष माना। इस मान्यता के निरन्तर विरोध का परिणाम ही यह प्रतीत होता है कि अकलंक ने प्रत्यक्ष की परिभाषा विशद ज्ञान स्थिर की।

प्रत्यक्ष के भेद

जैन दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष के मुख्य दो भेद किये गए हैं—

१. सांव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष।

२. मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—

विकल प्रत्यक्ष तथा सकल प्रत्यक्ष।

मतिज्ञान सांव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय-ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है एवं केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष के भेदों का दिग्दर्शन निम्न प्रकार होगा—

प्रत्यक्ष
- सांव्यवहारिक या लौकिक (मतिज्ञान)
- मुख्य या पारमार्थिक
  - विकल प्रत्यक्ष या देशप्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्यय)
  - सकल प्रत्यक्ष (केवलज्ञान)

इस प्रकार प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय ज्ञान को सम्मिलित करके दार्शनिक परम्परा ने लौकिक परम्परा का समायोजन किया है, दूसरी ओर मुख्य प्रत्यक्ष के विकल और सकल भेदों के अंतर्गत अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान की गणना करके आगमिक परंपरा का निर्वाह किया गया है। इनका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

पांच इंद्रियां और मन, इन यथायोग्य छह कारणों से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इंद्रिय और मन की अपेक्षा से इसके दो भेद कर सकते हैं—

१. इंद्रिय सांव्यवहारिक

२. अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक

इन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय तथा मन दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है जब कि अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल मन की सहायता से उत्पन्न होता है।

ज्ञान का उत्पत्ति-क्रम

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार भागों में विभाजित है - अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। यही ज्ञान का उत्पत्ति-क्रम है। सर्वप्रथम ज्ञान अवग्रह के रूप में उत्पन्न होता है। उसके बाद उसमें ईहा द्वारा विशेष ग्रहण होता है। तदनंतर अवाय के द्वारा वस्तु स्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान होता है जो बाद में धारणा के रूप में स्थायित्व प्राप्त करता है। इस तरह इन चारों की परिभाषाएं निम्न प्रकार होंगी---

१. अवग्रह—वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने के बाद अर्थ का जो सामान्य ग्रहण रूप ज्ञान होता है, वह अवग्रह कहलाता है। जैसे किसी मनुष्य को देखकर 'यह मनुष्य है' इस रूप का सामान्य ज्ञान अवग्रह है---

"अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।"

---प्रमाणमी० १।२६

अवग्रह दो प्रकार का होता है---व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह। अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते हैं तथा स्पष्ट ग्रहण को अर्थावग्रह। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (१.१८) में एक दृष्टान्त द्वारा दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है--जैसे मिट्टी के नये सकोरे पर जल के दो-चार छींटे देने से वह गीला नहीं होता; किंतु बार-बार पानी के छींटे देते रहने पर वह सकोरा धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र आदि इंद्रियों में आया हुआ शब्द अथवा ग्रंथ आदि दो-तीन क्षण तक स्पष्ट नहीं होते, किंतु बार-बार ग्रहण करने पर स्पष्ट हो जाते हैं। अतः स्पष्ट ग्रहण से पहले व्यंजनावग्रह होता है, बाद में अर्थावग्रह। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि जैसे अवग्रह ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है, वैसे अर्थावग्रह व्यंजनावग्रहपूर्वक ही हो। क्योंकि अर्थावग्रह पांचों इन्द्रियों तथा मन से होता है जब कि व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चार इंद्रियों से होता है।

व्यंजनावग्रह केवल चार इन्द्रियों से मानने का कारण यह है कि जैन चक्षु तथा मन को अप्राप्यकारी मानते हैं। अर्थात् चक्षु और मन अन्य इंद्रियों की तरह वस्तु से संस्पृष्ट होकर नहीं जानते, प्रत्युत अलग रहकर ही जानते हैं। यही कारण है कि जैनों ने नैयायिकों के सन्निकर्ष का खंडन किया है।

अवग्रह के विषय में जैन आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है, जिसमें पारस्परिक अंतर भी उपलब्ध होता है। उसके विस्तार में जाना प्रकृत में अपेक्षित नहीं है।

ईहा

अवग्रह से ग्रहीत अर्थ में विशेष जानने की आकांक्षा रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं—

अवगृहीतविशेषाकांक्षणमीहा।— प्रमाणमी० १।२७

जैसे चक्षु के द्वारा शुक्ल रूप को ग्रहण करने के बाद उसमें यह पताका है या बगुलों की पंक्ति है अथवा यदि किसी पुरुष को देखा तो यह किस देश का है, किस उम्र का है आदि जानने की आकांक्षा ईहा है।

ईहा ज्ञान निश्चयोन्मुखी होने से संशय ज्ञान नहीं है। क्योंकि संशय में विरुद्ध अनेक कोटियों का ग्रहण होता है। ईहा में यह बात नहीं है। अवग्रह के द्वारा गृहीत अर्थ ईहा के द्वारा निश्चयोन्मुखी होता है।

अवाय या अपाय

अवग्रह द्वारा सामान्य रूप से गृहीत तथा ईहा द्वारा विशेष रूप से जानने के लिए ईहित अर्थ को निर्णयात्मक रूप से जानना अवाय है। कहीं-कहीं इसे अपाय भी कहा गया है। हेमचंद्र ने अवाय का लक्षण इस प्रकार दिया है----

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।

जैसे ईहा के उपर्युक्त उदाहरण में पंखों के फड़फड़ाने आदि से यह निश्चयात्मक ज्ञान होना कि यह बगुलों की पंक्ति ही है।

धारणा

अवाय द्वारा निर्णीत वस्तु को कालान्तर में न भूलना धारणा है। हेमचंद्र ने लिखा है—

स्मृतिहेतुर्धारणा।— प्रमाणमी० १।२९

जैसे सायंकाल के समय सुवह वाली बगुलों की पंक्ति को देखकर यह ज्ञान होना कि यह वही बगुलों की पंक्ति है, जिसे मैंने सुबह देखा था।

ये अवग्रह आदि ज्ञान इसी क्रम से उत्पन्न होते हैं। इस क्रम में कोई व्यतिक्रम नहीं होता। क्योंकि अदृष्ट पदार्थ का अवग्रह नहीं होता, अनवगृहीत में संदेह नहीं होता, संदेह के हुए बिना ईहा नहीं होती। ईहा के बिना अवाय नहीं होता और अवाय के बिना धारणा नहीं होती।

अवग्रह, ईहा तथा अवाय का काल एक-एक अन्तर्मुहूर्त है, किंतु धारणा का काल संख्यात अथवा असंख्यात अन्तर्मुहूर्त है। ज्ञान के इस उत्पत्ति-क्रम में समय का दीर्घतर व्यापार न होने से सभी ज्ञान एक साथ होते प्रतीत होते हैं। जैसे कमल के सौ पत्तों को सुई से एक साथ छेदने पर ऐसी प्रतीति होती है कि सारे पत्ते एक

ही समय में छेदे गए। काल-भेद सूक्ष्म होने से वह हमारी दृष्टि में नहीं आता।

पूर्व-पूर्व का ज्ञान होने पर उत्तरोत्तर ज्ञान अवश्य हो ऐसा नियम नहीं, किंतु उत्तर ज्ञान तभी होगा जब पूर्व ज्ञान हो चुकेगा। यही इनका क्रम ज्ञान ही उत्पत्ति में पाया जाता है।

अवग्रह आदि के अवांतर भेद

अर्थ के अवग्रह आदि चारों ज्ञान पांच इंद्रियों तथा मन की सहायता से होते हैं। अतएव प्रत्येक के छह-छह भेद होने से चारों के चौबीस भेद होते हैं। व्यंजनावग्रह केवल चार ही इंद्रियों के निमित्त से होता है इसलिए उसके चार ही भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर अट्ठाईस भेद होते हैं। दिगम्बर परंपरा में इनके बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, अध्रुव तथा इनके विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त तथा ध्रुव ये बारह भेद मानकर सब तीन सौ छत्तीस भेद माने जाते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

जो ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना केवल आत्मा से होता है उसे मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) विकल प्रत्यक्ष या देश प्रत्यक्ष, तथा (२) सकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष के दो भेद हैं–(१) अवधिज्ञान, (२) मनःपर्ययज्ञान। इन सबका सामान्य स्वरूप पहले बताया है।

मुख्य या सकल प्रत्यक्ष

जो ज्ञान इंद्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा से त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ जानता है, उसे मुख्य या सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे केवलज्ञान भी कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के समूल नाश से आत्मा के ज्ञान स्वरूप का प्रकट होना केवलज्ञान है। हेमचंद्र ने लिखा है

सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्।

—प्रमाणमी० १।१५

केवलज्ञान युक्त आत्मा को जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञ कहा है। जैन शास्त्रों में सर्वज्ञता का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

सर्वज्ञता की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

जैन दर्शन में आत्मा को ज्ञान गुण युक्त चेतन द्रव्य माना गया है। कर्मों के आवरण के कारण उसका यह ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होता। जैसे-जैसे कर्म का आवरण हटता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का विकसित रूप प्रकट होता जाता

है। इस प्रकार जब आवरण सर्वथा हट जाता है तो निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञानी त्रिकालवर्ती सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को एक साथ जानता है। कुंदकुंद ने लिखा है—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्त विसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं उपज्वयं दव्वमेकं वा॥
दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि ज्वाणादि॥

—प्रवचनसार १।४७-४९

सवज्ञसिद्धि का दार्शनिक आधार

सर्वज्ञ की उपर्युक्त सैद्धांतिक मान्यता को बाद के दार्शनिकों ने तार्किक आधार देकर सिद्ध किया है। मुख्य आधार अनुमान प्रमाण है। समंतभद्र ने लिखा है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः॥

—आप्तमीमांसा, श्लो० ५

सूक्ष्म पदार्थ परमाणु आदि, अन्तरित राम, रावण आदि, दूरार्थ सुमेरु पर्वतादि अग्नि आदि की तरह अनुमेय होने से किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

भट्ट अकलंक ने सर्वज्ञता का समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में उसके ज्ञान का ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों के जानने में क्या बाधा है (न्यायवि० श्लो० ४६५)। यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतः यह मानना अनिवार्य है कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ दर्शन के बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्य स्वप्न दर्शन इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भावी पदार्थों में संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है (सिद्धिवि० न्यायवि० आदि)।

हेमचंद्र ने लिखा है—

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः । —प्रमाणमी० १।१६

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है।

सर्वज्ञता की सिद्धि में बाधक प्रमाण का अभाव

अकलंक ने सर्वज्ञता की सिद्धि में एक ओर यह हेतु दिया है कि सर्वज्ञता की सिद्धि में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। बाधक का अभाव सिद्धि का बलवान् साधक है। जैसे 'मैं सुखी हूं' - यहां सुख का साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूंकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध है। अकलंक ने लिखा है —

अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।

—सिद्धिवि०

इसी सरणि पर बाद के जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञसिद्धि का विस्तृत विवेचन किया है।

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र की कसौटी पर भी आत्मतत्त्व की चरम प्रतिष्ठा की। भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दार्शनिकों का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जैनाचार्यों का गणित को योगदान

●

प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन

आधुनिक गणित के इतिहास में महावीराचार्य के सिवाय संभवत: एक-दो को छोड़कर अन्य जैन गणितज्ञ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार ज्योतिष इतिहास में भी संभवत: एक-दो को छोड़कर किसी भी जैन ज्योतिषी का उल्लेख नहीं है। यह विदेश की स्थिति है। साधारण साहित्य के रूप में ग्रंथों का उल्लेख व शोध, प्रकाशन आदि इंडालॉजिकल केंद्रों में हो जाने मात्र से इतिहास नहीं बन पाता। गणितीय शोध और वह भी अंतर्राष्ट्रीय भाषा में होने पर ही देश-विदेशों के गणित-विज्ञान के इतिहास में तथ्यों का समावेश हो पाता है और उन पर उत्तरोत्तर शोध हो सकती है तथा विकसित होने के अवसर आ सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि शोध किसी व्यक्ति विशेष की रचनाओं को लेकर हो, क्योंकि जैन विचारधारा का प्रवाह अज्ञात महर्षियों एवं विद्वानों द्वारा उद्वेलित हुआ और मात्र कुछ आचार्यों को छोड़ शेष ने परंपरागत उल्लेख कर अपना नाम भी प्रकट नहीं किया। अतएव यह बतलाना कठिन है कि रचनाकारों में मौलिक अंशदान करनेवाले कौन हैं तथा उनका मौलिक अंशदान कितना है। रचनाकार या तो संग्रहकर्ता थे अथवा टीकाकार। यह मूलभूत तथ्य था कि वर्द्धमान महावीर के समय अथवा आसपास ज्ञान के भंडार अप्रतिम रूप से भर गए थे, जिनको संभालने तथा परंपरा को हस्तगत करने में ही विशेष प्रयास होते रहे—उन्हें और भी अन्य रहस्यों को उद्घाटित करने में विकसित करने के प्रयास प्राय: नहीं हो पाए, तथा कालांतर में वे प्रयास रूढ़ियों का रूप भी लेते गए, अर्थात् जिस वैज्ञानिक कौतूहल को भारत ने अखिल विश्व में जागृत कर दिया था, वह भारत में ही समय पाकर सो गया।

पं० टोडरमल एवं उनके ग्रंथ

जैन मनीषियों में सर्वप्रथम हम पं० टोडरमल का उल्लेख करेंगे जिनकी

सम्यग्ज्ञान चंद्रिका टीका, अर्थ संदृष्टि अधिकार तथा त्रिलोकसार टीका, एवं लब्धिसार क्षपणसार की टीका विशेष रूप से गणितीय सामग्री के अभूतपूर्व भंडार हैं। इनमें लोकोत्तर गणित की गहनतम पहुंच है जिसे संभालने में पं० टोडरमल जैसी प्रतिभा ही कार्य कर सकने में सक्षम थी। यह अत्यंत दुःखद प्रसंग है कि उनका जीवनकाल (प्रायः ई० १७४०-१७६८) अत्यंत अल्प रहा, अन्यथा उनकी समकालीन विदेशों की विद्वानों की पंक्ति उनसे अतीव लाभान्वित होती और राशि सिद्धांत के पुनः आविष्कार को कैंटर द्वारा १८८० के लगभग प्रकट होने का अवसर और भी पहले उपस्थित हो गया होता।

पं० टोडरमल के समक्ष गोम्मट सारादि की वृहद् टीकाएं थीं और षट्खंडागम मूल ग्रंथों को छोड़कर शेष परंपरागत संदृष्टिमय अलौकिक गणित सहित अन्य टीकाएं थीं। किंतु उन टीकाओं के रहस्य को बतलाने वाला कोई भी गुरु उपलब्ध नहीं था। संभवतः गणित-शिक्षण की परंपरा का तब तक लोप हो चुका था और लोकोत्तर गणित की संदृष्टियों के विभिन्न रूपों का परिकर्माष्टक में उपयोग का प्रचलन बहुत कुछ समाप्त हो चुका था। उनका उचित बोध न होने के कारण अशुद्धि होने के भय से पंडितवर्ग भी उनका शोध करने में संकोच का अनुभव करते थे। किंतु इस चुनौती को पं० टोडरमल ने स्वीकार किया और मौलिक रूप से दो अर्थ संदृष्टि अधिकार लिखे। प्रथम अधिकार गोम्मटसार की टीका को समझने के लिए है जो प्रायः ३०८ पृष्ठों में है। दूसरा अधिकार लब्धिसार एवं क्षपणसार को विदित करने हेतु है जो प्रायः २०७ पृष्ठों में है। ये अर्थ संदृष्टि अधिकार तथा गोम्मटसार एवं लब्धिसार-क्षपणसार की बड़ी टीकाओं को प्रकाशित करने का श्रेय गांधी हरिभाई देवकरण ग्रंथमाला, कलकत्ता, को है तथा उन पंडितों को है जिन्होंने प्रायः १९१० के लगभग पवित्र प्रेस में कपड़ों के वेलन बनाकर अथक और अपार परिश्रम के पश्चात् शोधादि संस्करण कर प्रकाशित कराने में तन-मन-धन को अर्पित कर दिया। अब ये उपलब्ध नहीं हैं।

पंडित टोडरमलकृत त्रिलोकसार की टीका का आधार माधवचंद्र त्रैविधकृत संस्कृत टीका है। इसमें तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार विषयक गणितीय सामग्री है। गणितीय अंतर्दृष्टि से ओतप्रोत पं० टोडरमल ने दर्शन पर अपने मौलिक विचार प्रकट किए जो वैज्ञानिक खोज की भावना से पूर्ण थे।

यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ती

इसके दो भागों का गणित जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह (शोलापुर, १९५८) की प्रस्तावना रूप में छप चुका है। इस ग्रंथ में पूर्ववर्ती रचनाओं का उल्लेख मिलता है—अग्गायणिय, दिट्ठिवाद, परिकम्म मूलायर, लोय विणिच्छिय, लोय विभाग, लोगाइणि। यह ग्रंथ मुख्यतः करणानुयोग का है। स्वयं तिलोयपण्णत्ति के

उल्लेखानुसार प्रस्तुत ग्रंथ का कर्तृत्व अर्थ और ग्रंथ के भेद से दो प्रकार का है। लोकातीत गुणों से संपन्न भगवान् महावीर इसके अर्थकर्ता हैं। उनके पश्चात् यह ज्ञान परंपरागत है। ग्रंथकर्ता ने आदि में या पुष्पिकाओं में न तो अपने गुरुओं का कोई उल्लेख किया और न स्वयं अपना नाम-निर्देश। उन्होंने तिलोयपण्णत्ति का प्रमाण बतलाने के लिए संभवतः अपनी ही दो अन्य रचनाओं—पूर्णिस्वरूप और (षट्-) करण स्वरूप का उल्लेख किया है। इंद्रनंदि के श्रुतावतार के अनुसार उन्होंने आचार्य नागहस्ति और आर्यभिक्षु से कषायप्राभृत सूत्रों का अध्ययन कर वृत्ति रूप से चूर्णिसूत्रों की रचना की जिनका प्रमाण छह हज़ार ग्रंथ था। यतिवृषभ शिवार्थ, बट्टकेर, कुंदकुंद आदि जैसे ग्रंथ-रचयिताओं के वर्ग के हैं, और तिलोयपण्णति उन आगमानुसारी ग्रंथों में से है जो पाटलिपुत्र में संगृहीत आगम के कुछ आचार्यों द्वारा अप्रमाणित एवं त्याज्य ठहराए जाने के पश्चात् शीघ्र ही आचार्यानुक्रम से प्राप्त परंपरागत ज्ञान के आधार से स्मृति सहायक लेखों के रूप में संगृहीत किए गए। वीरसेन ने उन्हें अज्जमंखु के शिष्य तथा नागहत्थि के अंतेवासी कहा है। (स्व० डॉ० ही० ला० जैन, ति० प०, २, पृ० आदि) हाल ही में इस ग्रंथ और त्रिलोकसार ग्रंथ के ज्योतिर्बिंबों के गमन पर एक शोध प्रकाशनार्थ भेजा गया है। गणित इतिहास के लिए इस ग्रंथ से अभूतपूर्व सामग्री प्राप्त हुई है। विदेशों में तिलोयपण्णत्ति के गणित का आंग्ल अनुवाद अत्यंत शीघ्र फलदायी सिद्ध होगा।

लोक विभाग

लोक विभाग ग्रंथ मूल प्राकृत में संभवतः सर्वनंदि द्वारा प्रायः ४५८ ई० में रचित हुआ, जिसका संस्कृत सार सिंहसूरि ने संभवतः ग्यारहवीं सदी के पश्चात् रचा है। करणानुयोग का एक और ग्रंथ 'जंबूदीव पण्णत्ति संगहो' है जिसे बलनंदि के शिष्य पद्मनंदि (प्रायः ११वीं सदी ई०) ने रचा। इसका स्रोत संभवतः 'दीप-सागर-पण्णत्ति' रहा होगा जो चौथा परिकर्म (दृष्टिवाद) है। इस ग्रंथ का साम्य या वैषम्य निम्नलिखित ग्रंथों से दिखाई देता है—तिलोयपण्णत्ती, मूलाचार, त्रिलोकसार, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र, ज्योतिष्करंड, बृहत्क्षेत्रसमास और वैदिक ग्रंथ।

इस प्रकार करणानुयोग के परपरागत ग्रंथों में संख्या सिद्धांत, ज्यामिति अवधारणाएं, अंक गणना, बीजगणित, भापिकी (ज्यामिति विधियां) और ज्योतिष संबंधी गणनाएं जो सभी राशि सिद्धांत पर आधारित हैं। ज्योतिष बिंबों के गमन को गगनखंडों के आधार पर वर्णित किया गया है और उनकी स्थिति दो विभाओं, मेरु से दूरी तथा पृथ्वी तल से ऊंचाई द्वारा दर्शाई गयी है। त्रिलोकसार में कृतराहु का भी वर्णन है जिससे नक्षत्र एवं राशि (zodiac) का सहसंबंध एवं उपरोक्त

सभी से पंचांग के लिए न्यास तैयार किया जा सकता है। औसत कोणीय वेग के सिवाय परिवर्तनशील वेगों का भी उल्लेख है। दो सूर्य और दो चंद्रादि प्रणाली यूनान में पिथेगोरीय युग में प्रचलित थीं जिसका उपयोग संभवतः ग्रहण की गणना के लिए होता था, पर इस प्रणाली में हमें केवल एक प्रति-गुरु ग्रह का ही उल्लेख मिला है।

श्वेतांबर परंपरा के ग्रंथ

श्वेतांबर परंपरा में अर्धमागधी जैनागम के रूप में सूर्य पण्णत्ति, जंबूदीवपण्णत्ति, चंदपण्णत्ति संकलित हैं जिनमें प्रथम के रचयिता भद्रबाहु आचार्य (प्रायः ई० पू० तीसरी शताब्दी) माने गए हैं। ये तीनों ग्रंथ मलयगिरि (प्रायः ई० ग्यारहवीं शताब्दी) की टीका रूप हैं। सूरियपण्णत्ति में २० पाहुड हैं जिनके अंतर्गत १०८ सूत्रों में सूर्य, चंद्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तृत वर्णन है। जंबूदीवपण्णत्ति की मलयगिरि वाली टीका उपलब्ध नहीं है। इस पर धर्मसागरोपाध्याय (वि० सं० १६३९) तथा पुण्यसागरोपाध्याय (वि० सं० १६४५) ने टीकाओं की रचना की। चंद्र प्रज्ञप्ति का विषय सूर्य प्रज्ञप्ति से बिलकुल मिलता है। इसमें २० प्राभृतों में चंद्र के परिभ्रमण का वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्ति में दो सूर्य, दो चंद्रादि विवरण, सूर्य की परिवर्तनशील गति, १८ मुहूर्त्त का दिन, १२ मुहूर्त्त की रात्रि आदि, पंच वर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र, तिथि और मास का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार चंद्र प्रज्ञप्ति में सूर्य की योजनात्मक गति, सूर्य-चंद्र के आकार, चंद्र गति, छायासाधन, सूर्य के मंडल, चंद्र के साथ योग करने वाले नक्षत्र, ज्योतिबिंबों की ऊंचाई, सूर्य-चंद्र ग्रहण आदि का विवरण मिलता है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति अप्रकाशित है। इन ग्रंथों के गणित भाग पर अभी कोई शोध देखने में नहीं आया।

इनके सिवाय जिनभद्रगणि (ई० ६०९) के वृहत्क्षेत्र समास (क्षेत्रसमास प्रकरण) पर मलयगिरि की टीका है। वृहत्संग्रहणी पर भी मलयगिरि आदि की टीकाएं हैं। हरिभद्र सूरि (प्रायः ७५० ई०) ने लघु संघयणी (जंबू द्वीप संग्रहणी) की रचना की। सोमतिलक सूरि ने चौदहवीं सदी में नव्य वृहत्क्षेत्रसमास की रचना की और रत्नशेखर सूरि (प्रायः १४३९ ई०) ने लघु क्षेत्र समास की रचना की।

जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा में त्रिलोक प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार और लोक विभाग आदि लोकानुयोग ग्रंथ उपलब्ध हैं उसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में वृहत्क्षेत्रसमास, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्रवचनसारोद्वार, बृहत्संग्रहणी और लोकप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। बृहत्क्षेत्रसमास व त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिक ग्रंथों में गणित नियमों में प्रायः समानता है। उदाहरणार्थ परिधि, बाण, क्षेत्रफल आदि निकालने में करण सूत्रों में (ति० प०, २, पृ० ७५) कुछ विशेषताएं

भी हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रंथों से भी तुलना की जा सकती है। आर्यरक्षित द्वारा रचित अनुयोगद्वार में भी गणित के विषय हैं। इसकी टीकाएं जिनदास गणि, हरिभद्र सूरि और मलधारि हेमचन्द्र द्वारा रची गयीं। उपलभ्य बृहत्संग्रहणी के संकलनकर्ता मलधारि हेमचन्द्र सूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (ई० बारहवीं शती) हैं। उक्त समस्त रचनाओं से सम्भवतः प्राचीन ज्योतिष करंडक है जिसे मुद्रित प्रति में पूर्वभृद् वालभ्य प्राचीनतराचार्य कृत कहा गया है। उपलभ्य ज्योतिष करंडक—प्रकीर्णक में ३७६ गाथाएं हैं, जिनमें सूर्यप्रज्ञप्ति का सार लिखने का प्रारंभ में उल्लेख है। इसमें काल प्रमाण, मान, अधिक मास-निष्पत्ति, तिथि-निष्पत्ति, ओमरत नक्षत्र परिमाण, चन्द्र-सूर्य-परिमाण, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-गति, नक्षत्रयोग, मण्डल विभाग, अयन, आवृत्ति, मुहूर्तगति, ऋतु, विषुक्त, व्यतिपात, ताप, दिवसवृद्धि, पौर्णमासी, प्रनष्ट पर्व और पौरुषी— ये २१ पाहुड हैं। इसमें नक्षत्र-लग्न का प्रतिपादन है। पूर्वाचार्य रचित यह आगम वलभी वाचना के अनुसार संकलित है। इस पर पादलिप्त सूरि ने प्राकृत टीका की रचना की थी। इस टीका के अवतरण मलयगिरि ने इस ग्रंथ पर लिखी गयी अपनी संस्कृत टीका में दिये हैं। यहां गणिविज्जा (८२ गाथाएं) ज्योतिष ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं, जिसमें हारा शब्द का प्रयोग हुआ है।

आचार्य नेमिचन्द्र के ग्रंथ

द्रव्यानुयोग के पाठ्य ग्रंथों के रूप में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का योगदान अनुपम है। उन्होंने गणित को केन्द्रीयभूत कर समस्त पूर्व आचार्यों के विस्तृत ज्ञान को सारांश में सूत्रबद्ध किया ताकि वे विद्यार्थियों और गृहस्थों के सामान्य पठन में सुविधाजनक सिद्ध हों। षट्खंडागम और उनकी धवला टीका के आधार से गोम्मटसार जीवकांड और कर्मकांड की रचना हुई जिनमें क्रमशः ७३३ और ९६२ गाथाएं हैं। नेमिचन्द्र ने अपनी कृति के अंत में कहा है, "जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खंड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से षट्खंडागम को सिद्ध कर अपनी इस कृति में भर दिया है। इसी सफल सैद्धान्तिक रचना ने उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित कर दिया। संभवतः त्रैविद्यदेव की उपाधि को आचार्य धारण करते थे, जो इस षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों के पारगामी हो जाते थे, जैसे प्रसिद्ध टीकाकार माधव चंद्र त्रैविद्य। नेमिचन्द्र ने अपनी कृति गोम्मटराय के लिए निर्माण की थी। गोम्मट गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री चामुंडराय का एक उपनाम था। इसका अर्थ 'सुन्दर' है। इन्हीं चामुंडराय ने गोम्मटसार पर कन्नड़ में एक वृत्ति लिखी थी जो अब प्राप्य नहीं है। उन्होंने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बाहुबलि की मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो कलात्मक सौन्दर्य के लिए अप्रतिम है।

नेमिचन्द्र आचार्य के अन्य ग्रंथ द्रव्य संग्रह, लब्धिसार एवं त्रिलोकसार हैं। वास्तव में उन्होंने लब्धिसार ग्रंथ ही लिखा है जो लब्धिसार-क्षपणसार के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। क्षपणसार की प्रशस्ति के अनुसार इसे माधवचन्द्र त्रैविद्य ने बाहुबलि की प्रार्थना से लिखकर ई० सन् १२०३ में पूर्ण किया था। लब्धिसार ग्रंथ चामुंडराय के प्रश्न के निमित्त से नेमिचन्द्र आचार्य निर्मित किया जो कषाय प्राभृत नामक जयधवल के सिद्धान्त के पन्द्रह अधिकारों में से पश्चिम स्कंध नाम के पंद्रहवें अधिकार के अभिप्राय से गर्भित है। इसकी संस्कृत टीका उपरामचरित्र के अधिकार तक के शववर्णीकृत मिलती है, आगे के क्षयणधिकार की नहीं। इसकी भाषा टीका पंडित टोडरमल ने बनाई है। उन्होंने लिखा है कि उपशय-चरित्र तक तो संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया गया है। किंतु कर्मों के क्षयणाधिकार के गाथाओं का व्याख्यान माधवचंद्र त्रैविद्य कृत संस्कृत गद्य रूप क्षपणसार के अनुसार अभिप्राय शामिल कर किया गया है। इसीलिए इस ग्रंथ का नाम लब्धिसार क्षपणसार है। इस ग्रंथ पर गणितीय शोध करने के पूर्व गोम्मटसार के गणित में सक्षम होना आवश्यक है। जीव के गुणस्थान एवं मार्गणास्थान सम्बन्धी संख्यात्मक, असंख्यात्मक एवं अनन्तात्मक राशियों के बोध के पश्चात् उनकी भाव राशियां तथा कर्म राशियां जानना आवश्यक है। गोम्मटसार का गणित हम लोगों ने सुगम्य अनुभव किया है, जहां बंध के उदय, सत्त्व निर्जरा आदि की गणितीय प्रक्रियाएं बोधगम्य हैं। किंतु लब्धिसार और क्षपणसार के गणित की गहराई कुछ और है, जहां रेखिकीय आकृतियां और कर्म की प्रक्रियात्मक राशियां अधिक जटिल-सी दृष्टिगत होती हैं।

इसकी रहस्यात्मक गणितीय शोध में बीस-पचीस वर्ष सहज ही बीत जायेंगे, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि जिन बुनियादों पर यह लब्धि और क्षपणा के गणितीय सिद्धांत, सम्बन्ध आदि दिये गये हैं उनको समझाने वाला कोई दृष्टिगत नहीं होता है। जिज्ञासा यह है कि किन प्रयोगों के आधार पर ये सिद्धान्त बनाये गए क्या वे प्रयोग अब दिखलाये जा सकते हैं अथवा स्वयं अनुभूत किए जा सकते हैं ? इस हेतु कुछ सीमा तक क्वांटम यांत्रिकी का स्पेक्ट्रल सिद्धांत और आटोमेटा का सिद्धांत हमें सहायता कर सकता है, क्योंकि आटोमेटा (सिस्टम सिद्धांत) में आस्रव (input), सत्त्व (state) तथा उदयनिर्जरा (output) के सिद्धांत राशि सिद्धांत पर आधारित कर विगत बीस वर्षों में चंद्र-यात्रा जैसे प्रयोगों को सफल बनाकर उच्चतम श्रेणी की विज्ञान पद्धति को जन्म दे चुके हैं। नियंत्रण (control) आदि सिद्धान्त जो भौतिक रूप में उभर चुके हैं वे जैनाचार्यों ने प्राय: २०००-२५०० वर्ष पूर्व गुणस्थान आदि रूप में जीव-भौतिकी रूप को सर्वोत्कृष्ट-विज्ञान की उच्चतम पहुंच में निखार दिया था। इसे समझने हेतु अब टीम-वर्क की नितान्त आवश्यकता है, जहां गणित के उच्चतम साधक और साधन उपस्थित हों वहां यह

फलीभूत हो सकेगा।

यदि हम अणुशक्ति पर नियंत्रण अहिंसात्मक चाहते हैं तो निश्चित ही हमें आत्म-भावशक्ति के नियंत्रण के आविष्कार की कहानी को प्रयोगात्मक रूप में उतारना होगा और वह तभी सफल होगा जब कि हम सिद्धांत के रूप को गणित द्वारा तथा पास्चुलेट्स द्वारा आधुनिक वैज्ञानिक को विश्वास में ला सकेंगे। इस हेतु विपुल सामग्री जो गणित से ओतप्रोत है वह उपरोक्त गोम्मटसारादि जो जीव-तत्त्व-प्रदीपिकादि टीकाओं में उपलब्ध है और जिसका उपयोग हमें समय रहते कर लेना है ताकि हम आधुनिक विज्ञान और गणित की नवीनतम सीमाओं को शीघ्र ही आगे ढकेलकर श्रेय स्वतंत्र-भारत को दे सकें, जहां अहिंसा के आधार पर ही हम समस्त जगत् को स्वतंत्रता-प्राप्ति हेतु जागृत कर सकें और अहिंसात्मक आंदोलन को जन्म दे सकें। हमें गणितीय सिद्धांतों द्वारा यह विश्वास दिलाना है कि कषाय के नियंत्रण से योग को इस प्रकार संचालित किया जा सकता है कि तीर्थ की उत्पत्ति हो सके—अर्थात् जीवों का अधिकतम कल्याण हो सके। मोह या कषाय जितना कम होगा, उतना ही विशुद्धि होगी, और कल्याणकारी शक्तियों का उतना ही स्रोत प्रवाह शृंखलाबद्ध क्रिया की भांति होगा।

धवला—जयधवला टीकाएं

अब हम धवला और जयधवला टीकाओं के रचयिता वीरसेनाचार्य की ओर ध्यान देंगे। गणित की दृष्टि से इन टीकाओं का भी बड़ा महत्त्व है। इन टीकाओं में अनेक ऐसे प्रकरण स्पष्ट किए गए हैं तथा सुलझाये गए हैं जो षट्खंडागम के गूढ़ार्थों के रहस्य से भरे हुए हैं और उन विधियों पर आधारित हैं जो टीकाकार से प्राय: एक हज़ार वर्ष से पूर्व प्रचलित रही होंगी। यद्यपि षट्खंडागम पर कुंद-कुंद, श्यामकुंड, तुम्बुलू, समंतभद्र और बलदेव द्वारा टीकाएं लिखी गयीं पर वे अप्राप्य हैं। धवला टीका वीरसेन ने ई० सन् ८१६ में पूर्ण की। इसमें प्राय: बहत्तर हज़ार श्लोक हैं। टीकाकार के समक्ष जैन सिद्धांत विषयक विशाल साहित्य था। उन्होंने संत कम्म पाहुड, कषाय पाहुड, समति सुत्त, तिलोयपण्णतिसुत्त, पंचत्थि पाहुड, तत्वार्थसूत्र, आचारांग, वट्टकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, अकलंक कृत तत्वार्थभाषा, तत्वार्थ राजवार्तिक, जीव समास, छंद सूत्र, कम्मपवाद, दशकरणी संग्रह, आदि के उल्लेख किये हैं। गणित सम्बन्धी विवेचन में परिकर्म का उल्लेख किया है। अनेक स्थलों पर उन्होंने गणित का आश्रय लेकर सूत्रों का अर्थ और प्रयोजन सिद्ध किया है। कुछ प्रसंगों पर उन्हें स्पष्ट आगम परंपरा प्राप्त नहीं हुई, तब उन्होंने अपना स्वयं स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव में उन्होंने स्वयं अपनी युक्ति बल से अमुक बात सिद्ध की है। दार्शनिक एवं गणितीय विषयों पर उनका विवेचन पूर्ण और निर्णय

स्पष्ट है। कषाय पाहुड की रचना २३३ मूल गाथाओं के रूप में संभवत: आचार्य धरसेन के समकालीन आचार्य गुणधर द्वारा हुई जिस पर यंतिकृषभाचार्य ने आर्य-भक्षु एवं नागहस्ति से शिक्षा ग्रहण कर छह हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति सूत्र लिखे; जिन्हें उच्चारणाचार्य ने पुन: पल्लवित किये। इन पर वीरसेनाचार्य ने बीस हज़ार श्लोक प्रमाण अपूर्ण टीका लिखी और स्वर्गवासी हुई। उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हज़ार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूर्ण किया। उन्होंने वीरसेन के सम्बन्ध में लिखा है—

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।
जाता: सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्वित: ।।

वीरसेनाचार्य की दृष्टि वैज्ञानिक थी और अन्त:प्रेरणा गणितीय स्रोतों से परिप्लावित थी। डॉ० अवधेशनारायण सिंह ने केवल द्रव्यप्रमाणानुगम भाग से, तथा कुछ और संभवत: आगे के भाग से शांकव गणित, बीजगणित तथा राशि गणित सम्बन्धी प्रारम्भिक गणितीय खोजों को अपने लेखों में प्रकट किया है और गंभीरतापूर्वक स्पष्ट किया है कि ये ग्रंथ भारत के गणित के इतिहास के ऊधतम युग सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में सहायक सिद्ध होंगे। उन्होंने ही प्रथम बार अर्द्धच्छेद को लागएरिथ्म टू दा वेस टू के रूप में पहचाना। इन टीकाओं में बड़ी सख्याओं का उपयोग, वर्गन संवर्गन क्रिया, शलाका गणन, विरलन देय गुणन, अनन्त-राशियों का कलन, राशियों के विश्लेषण हेतु अनेक विधियां आदि का समावेश है। इन्हें तथा तिलोय पण्णत्ति के कई स्थलों को समझने हेतु पंडित टोडरमल की टीकाओं से होकर गुजरना आवश्यक होगा, अन्यथा कई स्थानों पर विद्यार्थी उलझ जाएगा। तिलोय पण्णत्ति में भी दृष्टिवाद से अवतरित जम्बूद्वीप की परिधि का माप, उपमा प्रमाण, विविध क्षेत्रों का घनफल निकालने की विधियां, बाण, जीवा, धनुष पृष्ठ आदि में सम्बन्ध, धनुपक्षेत्र का क्षेत्रफल, सजातीय तथा सम-क्षेत्र घनफल वाली आकृतियों का रूपांतर एवं उनकी भुजाओं के बीच संबंध आदि दिए गये हैं। इनकी कुछ सामग्री वीरसेन की धवला टीका में भी दृष्टिगत होती है।

वीरसेन के प्राय: समकालीन महावीराचार्य के गणितसार संग्रह का उद्धार १९१२ में मद्रास के प्रोफेसर रंगाचार्य द्वारा हुआ जिसने यह सिद्ध कर दिया कि भारत के सुदूर दक्षिण में भी उत्तर के विद्या-केंद्रों की भांति गणित विद्या के केंद्र थे। महावीराचार्य ने अपने समय के नृपतुंग अमोघवर्ष के आश्रय में रहकर, पूर्व-वर्ती गणितज्ञों के कार्य में कुछ सुधार किया, नवीन प्रश्न दिये, दीर्घवृत का क्षेत्रफल निकाला तथा मूलवद्ध और द्विघातीय समीकरणों में सुन्दर ढंग से पहुंच की। उन्होंने शून्य द्वारा विभाजन (संभवत: राशि सिद्धांत पर आधारित) प्रस्तुत किया। संकेतनात्मक स्थान बतलाये और भाग देने की एक वर्तमान विधि का कथन किया।

सर्वसमिकाएं प्रस्तुत कीं और कूट स्थिति द्वारा कई प्रश्न हल किए। काल्पनिक राशि के आविष्कारक वही थे क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम उन्हें पहचानकर अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। उन्होंने व्यापकीकृत पद्धतिवाले एकघातीय समीकरणों के हल करने के नियम दिए और अनेक अज्ञात वाले युगपत् द्विघातीय समीकरणों को हल किया। महावीराचार्य द्वारा 'ज्योतिष पटल' ग्रंथ भी रचित किए जाने की संभावना डॉ० नेमिचंद्र शास्त्री ने प्रकट की है। उनका ग्रंथ लौकिक गणित ग्रंथ है और उन्होंने संकेत किया है—

इतिसंज्ञा समासेन भाषिता मुनि पुङ्गवैः।
विस्तरेणागमाद्वेद्यं वक्तव्यं यदितः परम् ।। १-७० गो०सा०सं०

षट्खंडागम सिद्धांत ग्रंथ में हमने राशि सिद्धांत और राशि संरचना सिद्धांत गहराई से तथा आधुनिक गणितीय साधनों से विश्लेषित किए हैं, जिन पर शोध-पत्र प्रकाशित होने वाले हैं। षट्खंडागम की रचना के संबंध में और आचार्य धरसेन तथा उनके अत्यन्त प्रतिभाशाली शिष्यों आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि के सम्बन्ध में धवला ग्रंथों में विशेष परिचय मिलता है। आचार्य धरसेन से कसौटी में पूर्ण निपुण उतरकर इन शिष्यों ने उनसे दूसरे अग्रायणी पूर्व के अन्तर्गत चौथे महाकर्म प्रकृति प्राभृत का ज्ञान प्राप्त किया। आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर, गुणस्थानादि बीस-प्ररूपणा-गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्रों की रचना की और जिनपालित को पढ़कर उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा। उन्होंने जिन-पालित के पास बीस-प्ररूपणा-गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र देखे और उन्हीं से यह जानकर कि पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं, अतएव महाकर्म प्रकृति प्राभृत का विच्छेद न हो जाए, यह विचार कर उन्होंने (भूतबलि ने) द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर आगे के ग्रंथ की रचना की। श्रुतपंचमी को समारोह कर उन्होंने पुस्तकारूढ़ षट्खण्ड रूप आगम को जिनपालित के हाथ आचार्य पुष्पदन्त के पास भेजा जो कार्य की सम्पन्नता पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। पुनः इस सिद्धांत ग्रंथ की उन्होंने चतुर्विध संघ के साथ पूजा की। यह इस तथ्य का द्योतक है कि उन्हें ज्ञान के प्रति कितनी निष्ठा और प्रेम था। इंद्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खंडागम के आद्य भाग पर कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा रचित परिकर्म का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ का उल्लेख षट्खंडागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता वीरसेन आचार्य ने अपनी टीका में कई जगह किया है। इस प्रकार परिकर्म के गणितीय अंश का अभी ज्ञान नहीं है। हो सकता है कि उसमें राशि सिद्धांत और शलाका गणन आदि का प्रथम, सुलभ, सुगम्य रूप विस्तृत रूप से वर्णित हो। षट्खंडागम की परंपरा की द्वितीय महत्त्वपूर्ण रचना पंचसंग्रह है जिसमें जीवसमास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सत्तरि पर क्रमशः २०६, १२, ७७, १०५ और ७० गाथाएं हैं। इसे टीकाकार प्रभाचंद्र द्वारा लघुगोम्मटसार सिद्धांत कहा गया है जो प्रायः ई० सत्रहवीं

सदी में हुए। इसी ग्रंथ के आधार पर अमितगति ने ई० सन् १०१६ में संस्कृत श्लोकबद्ध पंचसंग्रह की रचना की।

गणित के अन्य ग्रंथ

श्वेताम्बर परंपरा में भी कर्म ग्रंथों का बड़ा महत्त्व है। नन्दीसूत्र में दृष्टिवाद के पांच भाग बतलाये हैं— परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत (चौदह पूर्व), अनुयोग और चूलिका। परिकर्म के द्वारा सूत्रों को यथावत् समझने की योग्यता प्राप्त की जाती है। 'पूर्वधर' नाम से विख्यात विक्रम की लगभग पांचवीं सदी के आचार्य शिवकर्म सूरि ने कम्म पयडि (कर्म प्रकृति) और सयग (शतक) की रचना की है। कर्म प्रकृति में ४१५ गाथाओं में बंधन, संक्रमण, अपवर्तन, उदीरणा, उपशयना, उदय और सत्ता का विवेचन है। ये कर्म संबंधी आठ करण हैं। इस पर चूर्णी भी लिखी गयी है। मलयगिरि और यशोविजय (अठारहवीं सदी) ने इस पर टीकाएं लिखी हैं। सयग पर भी मलयगिरि ने टीका लिखी है।

पार्श्वऋषि के शिष्य चन्द्रर्षि महत्तर ने पंचसंग्रह की रचना की है जिसमें ६६३ गाथाएं हैं। ये सयग, सत्तरि, कषाय पाहुड, छकम्म और कम्मपयडि नाम के पांच द्वारों में विभक्त हैं। गुणस्थान, मार्गणा, समुद्घात, कर्मप्रकृति तथा बंधन, संक्रमण आदि का यहां विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

प्राचीन कर्मग्रंथों में कम्मविवाग, कम्मत्थव, बंध सामित्त, सडसीइ, सयग और सित्तरि हैं। कम्मविवाव के गर्गर्षि हैं। जिनवल्लभगणि ने सडसीइ नाम के चौथे कर्मग्रंथ को रचा। सयग के रचयिता आचार्य शिवशर्म हैं। इन ग्रंथों पर भाष्य, चूर्णियां और अनेक वृत्तियां लिखी गयी हैं।

ई० तेरहवीं शताब्दी में देवेन्द्रसूरि ने कर्मविपाक, कर्मस्त्व, बन्ध, स्वामित्व, षडशीति और शतक नामक ग्रंथों की रचना की है। ये प्राचीन कर्म ग्रंथों पर आधारित हैं इसलिए इन्हें नव्य कर्म ग्रंथ कहा जाता है। एक ओर नव्य कर्म ग्रंथ प्रकृति बंध विषयक ७२ गाथाओं में लिखा गया है, जिसके कर्त्ता के विषय में अनिश्चय है। जिनभद्रगणी (ई० छठी शती) कृत विशेषणवती में ४०० गाथाओं द्वारा ज्ञान, दर्शन, जीव, अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है। जीव समास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओं में पूर्ण हुई है, और उसमें सत् संख्या आदि सात प्ररूपणाओं द्वारा जीवादि द्रव्यों द्वारा स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रंथ पर एक वृहद् वृत्ति मिलती है जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ई० में लिखी गई और ७००० श्लोक प्रमाण है।

ज्योतिष और न्याय-ग्रंथों में गणित

जहां गणित का प्रयोग हुआ है ऐसे विषय ज्योतिष और न्याय भी हैं। गणित-

ज्योतिष एवं गणितीय-न्याय आज के फलते-फूलते विषय हैं। जैन-परंपरा में गणित-ज्योतिष के विकास कड़ी में श्रीधर हैं, जिन्होंने गणितसार, ज्योतिर्ज्ञान विधि तथा जातक तिलक रचे हैं। ज्योतिर्ज्ञान विधि में संवत्सरों के नाम, नक्षत्र नाम, योग नाम, करण नाम और उनके शुभाशुभत्व दिए गए हैं। इसमें व्यवहारोपयोगी मुहूर्त भी दिए गए हैं। मासशेष, मासाधिपति, शेष, दिन शेष, दिनाधिपति शेष आदि अर्थ गणित की उद्नुत क्रियाएं भी दी गयी हैं। इनके गणितसार पर एक जैनाचार्य की टीका भी है। पहले यह शैव थे, किंतु बाद में जैन हो गए थे। इनके पूर्व कालकाचार्य का भी ज्योतिर्विदों में उल्लेख है किंतु गणित-ज्योतिष पर कोई ग्रंथ ज्ञात नहीं है। डॉ० नेमिचंद्र ने लिखा है कि आचार्य उमास्वामी भी ज्योतिष के आवश्यक सिद्धांतों से अभिज्ञ थे। भद्रबाहु आचार्य के संबंध में शास्त्रों में भी उल्लेख मिलते हैं, तथा उनके द्वारा विरचित अर्हच्चूड़ामणि सार प्रश्न ग्रंथ मौलिक माना गया है। आचार्य गर्ग के पुत्र ऋषिपुत्र भी महान् ज्योतिर्विद थे जो वराहमिहिर से पूर्व हुए। ई० सातवीं, आठवीं सदी में चंद्रोन्मीलन प्रश्नशास्त्र प्रसिद्ध था। वेंकटेश्वर प्रेस से १९३७ में प्रकाशित ज्योतिष कल्पद्रुम उल्लेखनीय है जिसमें जिनेंद्रमाला संभवतः जैन ज्योतिष ग्रंथ है। इसी प्रकार उद्योतनसूरि (शक ६९९) की कृति कुवलयमाला में ज्योतिष का पर्याप्त निर्देश है। दुर्गदेव का समय १०३२ ई० माना जाता है। इन्होंने अर्धकांड और रिट्ठ समुच्चय की रचना की। उदयप्रभदेव (ई० १२२०) द्वारा आरंभ सिद्धि रचित हुई जिस पर हेम हंस गणि ने वि० सं० १५१४ में टीका लिखी। मल्लिषेण (ई० १०४३) ने आयसद्भाव नामक ग्रंथ लिखा। राजादित्य (११२० ई०) ने अंक-गणित, बीजगणित एवं रेखागणित विषयक गणित ग्रंथ लिखे। पद्मप्रभसूरि (लगभग वि० सं० १२९४) ने भुवनदीपक लिखा जिसमें ३६ द्वार-प्रकरण हैं। इस पर सिंह तिलक सूरि की वि० सं० १३२६ में लिखी गयी टीका है। नरचंद्र (लगभग १३२४ सं०) ने नारचंद्र और बेड़ाजातक वृत्ति रचित की। ज्ञानदीपिका भी संभवतः इनकी रचना है। अज्ञात कर्ता की ज्ञान प्रदीपिका (आरा) और केरलीय प्रश्नशास्त्र (प्रश्न ज्ञान प्रदीप : लक्ष्मी, वैंकटेश्वर प्रेस, १९५४) में प्रायः सभी गाथाएं एक-सी हैं। अर्हद्दास (अट्ठकवि, ई० १३००) ने अट्ठम ज्योतिषग्रंथ लिखा। महेंद्रसूरि (श० ११९२) ने यंत्र राज नामक ग्रह गणित का उपयोगी ग्रंथ बनाया। मेघविजयगणि (वि० सं० १७३७ लगभग) और बाघजी मुनि (वि० सं० १७८३) का नाम भी उल्लेखनीय है।

इस प्रकार जैन-न्याय के अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं और उनसे गणितीय न्याय के सिद्धांत निर्मित हो सकते हैं।

उपर्युक्त विवरण में हो सकता है कि कुछ मेधावी जैन साहित्य के गणितज्ञों का उल्लेख न आ पाया हो। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस विचारधारा में गणित

एवं गणितज्ञों का विशेष योगदान रहा। आज के विज्ञान में राशि सिद्धांत का वृहद्स्तर पर प्रयोग हुआ है और अनेक समस्याओं का विश्लेषण कर उनका हल ढूंढ़ने में उसकी बड़ी भूमिका रही है। दिनोंदिन समुद्र की भांति उमड़ते हुए इस सिद्धांत ने संपूर्ण वैज्ञानिकी एवं मानविकी को व्याप्त कर लिया है। यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य है कि जैन साहित्य के निर्माताओं ने भी राशि सिद्धांत की खोज की और उसका अप्रतिम प्रयोग कर्म सिद्धांतादि के निरूपण में किया।

दूसरा गणितीय विषय त्रिलोक-संरचना विषयक है, जिसके संबंध में संपूर्ण द्रवयों संबंधी द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव विषयक गणनाएं की गयी हैं। इन सभी के हेतु प्रमाण स्थापित किए गए हैं। लोक के विषय में यह विभाग गणितीय दृष्टि से परिपक्व, पुष्ट, सैद्धांतिक तथा योजना-निबद्ध है। इस रूप में उसे प्रस्तुत करने की उनकी वैज्ञानिक भावना क्या रही होगी इसे जानने की ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिए। जैसे पुस्तक में छपा हुआ नक्शा, भारत या अन्य देश को प्रदर्शित करता है, और भारत की चीज़ों और नक्शे में भरी हुई चीज़ों में एक-एक अथवा अन्य संवाद उपस्थित होता है, वैसे ही त्रिलोक का चित्रण जैन साहित्य में किन्हीं ऐसे ही चित्रण आधारों को लेकर हुआ होगा। यह वे और भी गहराई से अनुभव करते हैं जिन्होंने राशि सिद्धांत की दृष्टि प्राप्त कर ली है।

तीसरा गणितीय विषय कर्मफल अथवा कर्मनियंत्रण अथवा कर्मक्षपणा जानने विषयक है। फलित ज्योतिष का विषय भी नक्षत्र राशियों से संवाद-स्थापन के आधार पर कर्मफल के अंश का निरूपण करता है। निस्संदेह, यह गणित अत्यंत जटिल है और आधुनिक विज्ञान में भी जीव-भौतिकी तथा जीव-रसायन संबंधी खोजों में गणितीय साधनों का उच्चतम प्रयोग उतना नहीं बन सका है जितना भौतिकी में। आत्मा की विभाव परिणति का चित्रण कर्म परमाणुओं द्वारा परिलक्षित होता है। राग और मोह के गणितीय परिप्रेक्ष्य में कर्म की नाना प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण भी गणित के क्षेत्र में उतर आता है। इन सभी का दिग्दर्शन कराने का गणितीय प्रयास जैन साहित्यकारों की एक अनुपम देन है, जिसका अध्ययन, पुनरुद्धार, पुनः विस्तार और पुनः प्रयोग लोक-कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

जैन कला का योगदान

•

प्रो० परमानन्द चोयल

भारतीय कला में जैन कला का महत्त्वपूर्ण योगदान है। २२० ई० पू० से २११ ई० पू० की पटना के पास कई जैन तीर्थंकरों की खड़ी ओपदार प्रतिमाएं मिली हैं, जो मौर्य कला की-सी श्रेष्ठता रखती हैं। इसी प्रकार एलौरा के सातवीं से नवीं शताब्दी के जैन शिल्प भी भारतीय कला के उच्चतम उदाहरण हैं। उत्तर मध्यकाल जैन कला का सर्वोन्मुखी विकासकाल है। इस समय पचासों श्रेष्ठ जैन मंदिर बने, जिनके वास्तु व शिल्प उच्च कला के बेजोड़ नमूने हैं। सैंकड़ों सचित्र पुस्तकें रची गईं, जिनके चित्र आनेवाली भारतीय कला की आधारशिला बन गए।

सातवीं शती तक अजंता शैली का ह्रास हो चुका था। एलौरा के कैलाश मंदिर में एक नई शैली की झलक मिलती है, जिसके अंतर्गत मानवाकृतियां अजंता-सी गोलाकार व ठोस न होकर कोणात्मक व चपटी होने लगीं। ग्यारहवीं शती के आस-पास पुस्तकों को चित्रित करने के लिए जैन चित्र रचे जाने लगे। इनमें आकृतियां एलौरा की कोणनुमा व सपाट थीं। आगे जाकर इनके कोण और भी तीखे हो गए तथा रंग चटकदार बन गए। यह बात अजंता से कहीं भी मेल नहीं खाती थी। यह एक नई शैली थी जिसमें आदिम कला की अभिव्यक्ति थी—लोककला का तीखापन था एवं कथा कहने की क्षिप्रता थी। ग्यारहवीं शती से सोलहवीं शती तक सारे उत्तरी भारत की यह प्रतिनिधि शैली बनी रही।

कई विद्वानों ने इस शैली को हीन व अपभ्रंश माना है। डबल्यू० जी० आर्चर कहते हैं—"The early glouring rapture is totally wanting and it is as if we have entered a dark age of Indian Art." भारतीय कला-समीक्षक श्री रायकृष्णदास ने इसे अपभ्रंश शैली कहा है तथा इसमें रचित चित्रों को 'कुपड़' चित्रकारों द्वारा बनाये गए माना है। यह अजंता की निगाहों से देखा जाने वाला तरीका था—सौंदर्य को रचनात्मक संगठन में देखने के बजाय आदमी के नाक-नक्शे में देखने की हविश थी। जो चित्र को रूपात्मक तत्त्वों (plastic elements)

एवं संरचना की दृष्टि से देखते हैं उनके लिए यह शैली एक नया ही अर्थ-बोध उपस्थित करती है। इस संदर्भ में बासिल ग्रे के ये शब्द मननीय हैं—

"It showed from the begining a linear wireness and vigour which was developed with great virtuosity fine drafts manship which was combined rather strongly with bold massing of vibrant colours, red, blue and gold and with highly decorative designs in cloths and other textiles."

मारियो बुसाग्लि की दृष्टि में जैन चित्रकला "कुछ अर्थों में एकदम नवीन एवं पूर्ण क्रांतिकारी शैली थी जिसने चित्रकला के विकास में एक नया ही प्रकरण जोड़ा है।"

किसी भी कला का ढांचा तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप बनता है। उसके स्वरूप-निर्माण में परम्परागत तत्त्वों के साथ-साथ नये तत्त्व भी जुड़े रहते हैं जिससे कला में बहाव, नवीनता एवं कालानुकूलता आती रहती है। जैन चित्रशैली तत्कालीन परिस्थितियों व आवश्यकताओं के कारण अजंता से इतनी बदल गई थी कि कुछ रूढ़ आलोचक अपने सौंदर्य को समझ नहीं पाये तथा उन्होंने जैन चित्रकला के समय को अंधकार युग मान लिया। कला की गिरावट का मतलब है कि उसमें न परम्परागत कला की रूपात्मकता (plasticity) बचे, न आने वाली कला को देने के लिए कुछ हो। जैन चित्रकला का पर्यवेक्षण करने पर ये दोनों ही बातें सत्य नहीं उतरतीं। जैन चित्रकला के लिए केवल राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियां ही भिन्न नहीं थीं वरन् तकनीकी विधा का भी प्रयोग नया था। अजंता में बड़े आकार के भित्तिचित्र बनने के कारण धरातली योजना (surface preparation) का भिन्न स्वरूप था। तकनीकी दृष्टि से इनमें जैन रंगों-सी चटक लाना संभव नहीं था। हर रंग चूने व गीली भूमि में समा जाने वाला ही लगाना पड़ता था जो दबाव के कारण अपनी उत्तेजना खो देता था। इसके विपरीत जैन चित्रों को पहले संकड़ी, आयताकार, छोटी-सी ताड़पत्रों की भूमि मिली, फिर कागज़ के निर्माण के बाद चौदहवीं शती में थोड़े बड़े आकार की कागज़ की भूमि मिली। इन दोनों ही धरातलों को बनाने का तकनीकी तरीका भिन्न था। चित्र अजंता के विशाल आकारों के मुकाबले बहुत ही छोटे-छोटे चौखटों व आयतों की सीमा में बंधे थे। अतः यहां मानवाकृतियों व प्राकृतिक दृश्यों को उपस्थित करने का केवल सांकेतिक (suggestive) तरीका बच गया था। अजंता-सी धारावाहिक कथा शैली इस सीमित स्थल में निभाना सरल नहीं था। इस समय अन्य कठिनाइयों के साथ-साथ तकनीकी दुविधाएं भी थीं जिनके कारण एक ऐसी नई शैली के निर्माण की आवश्यकता थी जहां पिछली परंपरा से भी सूत्र बंधा हो तथा आने वाली कला के लिए भी कुछ उपलब्धियां हों। जैन

कलाकार ने जिस कला की उद्‌भावना की वह दोनों छोर को जोड़ती है। जैन चित्रकार 'कुपड़' नहीं था वरन् बहुत ही प्रतिभा-संपन्न कलाकार था। यह एक नवीन समस्यामूलक परिस्थितियों के अनुरूप तथा क्षिप्र गति से सैकड़ों चित्र बना सकने वाली शैली का कुशल निर्माणकर्ता था।

जैन शैली में देशी व विदेशी कला के कई तत्त्वों का मिश्रण हुआ है। पुस्तक-लघु-चित्र शैली का प्रचलन मुस्लिम देशों में भारत से पूर्व विद्यमान था। भारत में यह प्रथा इस्लाम के संपर्क के बाद ही आरम्भ हुई। मारियो बुसाग्लि, बासिल ग्रे, आर्चर व अन्य कई विद्वानों ने इस बात को माना है कि भारतीय लघु चित्र शैली पर परसिया का प्रभाव आया है। जैन चित्रों में यह प्रभाव झलकता है पर भारतीय बाने में। एक कुशल व प्रतिभाशाली कलाकार में ही इस तरह की आत्मसात करने की क्षमता हो सकती है।

जिन लोगों ने यह आरोप लगाया है कि यह कला अजंता से टूट गई, उनके लिए मुनिश्री जिनविजयजी ने जेसलमेर के ज्ञान-भंडारों से जैन कला के वे नमूने खोज निकाले हैं जो अजंता-एलौरा की कला से जैन का संबंध जोड़ते हैं। लकड़ी की करीब चौदह सचित्र तख्तियां आप प्रकाश में लाए हैं, जिनमें कमल की बेल वाली पटली अजंता शैली की याद दिलाती है। एक चित्र में मकर के मुख से निकलती कमल-बेल सांची, अमरावती व मथुरा की कला-परंपरा से जैन कला को जोड़ती है।

भारतीय कला का मूलाधार रेखा है। पर्सी ब्राउन का कहना है कि भारतीय रेखा कहीं बोलती है, कहीं हंसती है तो कहीं रोती है। प्रवाहिता व गति भारतीय कला की प्रमुख विशेषताएं हैं। जैन चित्रों में इसका निर्वाह टूटा नहीं है वरन् गति व प्रभाव में यहां और भी क्षिप्रता आ गई है। गत्यात्मकता के आवेश में कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति को ठेस अवश्य पहुंची है, पर उसका लोप नहीं हो गया। यदि ऐसा होता तो इससे प्रत्युत्पन्न राजस्थानी चित्रों में भावात्मकता फिर से जाग नहीं पाती। कलात्मकता की दृष्टि से जैन रेखाएं किसी भी प्रकार महत्त्वहीन नहीं हैं।

कला-प्रवाहिनी धारा के समान होती है जो हर नये परिवेश में एक नया रूप लेकर बहती है। निर्प्रवाहिनी कला में बंधे हुए पानी के समान सड़ान आ जाती है। यदि जैन चित्रकला केवल अजंता की पुनरावृत्ति मात्र रह जाती तथा समयानुकूल उसमें परिवर्धन नहीं होता तो अवश्य ही आने वाले कला जगत् के लिए उसमें कुछ भी नहीं बच रहता। जैन चित्रकला का ढांचा अजंता, सांची व अमरावती का-सा है पर परिवेश नया है। छाया-प्रकाश द्वारा आकारों को गोलाकार बनाने की प्रवृत्ति यहां लुप्त हो गई। आकृतियां चपटी व समतल बन गईं। संयोजन में वैज्ञानिक दृष्टिक्रम (Scientific Perspective) के बजाय मानसिक दृश्य का प्रयोग किया जाने लगा। कथात्मकता के लिए चित्र-तल को कई भागों में बांट

दिया गया। कथा के विभिन्न अंशों को उनमें एक सूत्र में गूंथकर रखा गया। इनमें एक क्रमबद्धता थी। अभिव्यक्ति का यह तरीका प्रतीकात्मक था जिसके कारण आकृतियों में कहीं अतिरंजन आ जाता तो कहीं विघटन हो जाता। ये अमूर्त रचना के लक्षण थे। डब्ल्यू० जी० आर्चर ने इस कला को सातवीं-आठवीं शती की आइरिश कला, बारहवीं शती की रोमन कला एवं बीसवीं शती के आधुनिक काल की पिकासो की कला के समान माना है। धीरे-धीरे जटिल आकृतियां भी अटूट रेखाओं में प्रवाहित हो बहने लगीं जिनका वेग कोण में जाकर दूसरी रेखा में मिलता तथा और भी द्विगणित हो जाता। विघटन की विद्या मिलते ही आकृतियों को यथार्थ (visual) के बजाय अभिव्यक्तिमूलक बनाया जाने लगा। इनकी विशेषताएं हैं—सवा चश्म चेहरे, लंबी नुकीली नाक, कान तक खिंचे लंबे व मोटे नयन, इनमें टिकीं छोटी-छोटी गोल पुतलियां, चेहरे की सीमांत रेखा को पार करती दूसरी आंख, छोटी ठुड्डी, उभरा वक्ष, क्षीण कटि, गोलाकार नितंब आदि। यहां छिपे अंगों को 'एक्स-रे' की तरह दिखाने की प्रवृत्ति थी जो बीसवीं शती के कलाकार पिकासो व ब्राक की घनवादी कला की तरह थी। इनके तले सपाट गहरे रंगों से पटे थे। पीली-नीली आकृतियां गहरे लाल रंग के विरोध में रची जाती थीं जो सपाट तले मात्र दीखती थीं मानो आकृतियां न होकर रंग के टुकड़े हों जैसा कि फ्रांस के मॉतिस की फावीवादी कला में दीखता है। प्रकृति-अंकन में भी मानवीयता बरती गई है। शायद इसका कारण जैन दर्शन हो। जैन धर्म के अनुसार हर प्राणी में, यहां तक कि पेड़-पौधे आदि में भी जान होती है, अत: पेड़-पौधों, पशु-पक्षी आदि को भी मानवीय धरातल पर माना जाना चाहिए। यही कारण है कि जैन कलाकार ने मानवाकारों के अतिरिक्त अन्य आकारों को भी उसी श्रद्धा से निभाया है। दोनों प्रकारों के रूपों में समान अलंकरण विधा विद्यमान् है। इस दृष्टि से जैन चित्रकला विज़न्टाइन या रेवेरा की कला के समान गिनी जा सकती है जो एक ओर परंपरा से जुड़ी है तो दूसरी ओर परंपरा के विरोध में भी खड़ी दिखाई देती है।

जैन चित्रशैली तत्कालीन समय की प्रतिनिधि शैली थी जिसका जैन व अजैन विषयों के चित्रण में समान रूप से व्यवहार हुआ है। आरंभ में जैन विषय ही प्रकाश में आए। ये चित्र निशीथचूर्णि, अंगसूत्र, कथारत्नसार, संग्रहणीय सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, कालकाकथा, कल्पसूत्र व नेमीनाथ चरित्र आदि श्वेताम्बर जैन संप्रदाय से संबंधित थे। गुजरात व राजस्थान इसके मुख्य केंद्र थे। राजस्थान में उदयपुर, बीकानेर तथा जोधपुर में 'गुरुओं' की जाति के लोग जैन पुस्तकों में चित्र लिखने का व्यवसाय करते थे। उनका कहना है कि उन्होंने कल्पसूत्रों व चौबीस तीर्थंकरों की चौबीसी पर चित्र आंके हैं। नागोर, जालौर, जोधपुर, बीकानेर, खेरड़ी आदि नगरों व गांवों में ढेरों जैन सचित्र पुस्तकें रची गईं। गुजरात में

✓खंभात, पाटण, अहमदाबाद व सूरत जैन चित्र रचना के मुख्य केंद्र थे।

इसके बाद यह शैली अभिव्यक्ति का मुख्य अंग बन गई। साराभाई माणिकलाल नवाब ने चित्र कल्पद्रुम में कई ऐसे चित्र प्रकाशित किये हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में रचे गये थे। इनमें मांडू व जौनपुर के चित्र भी शामिल हैं। जौनपुर में वेणीदास गौड़ नामक चित्रकार ने कल्पसूत्र के चित्र बनाये थे। जौनपुर के और भी तीन कल्पसूत्र बने हैं जिनमें से एक तो स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। इसकी प्रति इस समय बड़ौदा के नरसिंहजी के ज्ञान मंदिर में है।

अजैन पुस्तकें वसंतविलास, लौर चंदा, गीत गोविंद, बाल-गोपाल स्तुति, भागवत पुराण, चौर पंचशिखा आदि विषयों को लेकर चित्रित की गईं। इनकी रचना परवर्ती काल में गुजरात, राजस्थान, मालवा व पालम आदि में हुई। कथानक की भावात्मकता के कारण अजैन चित्रों में अधिक गति दिखाई पड़ती है। शैली का भी विकसित चेहरा नज़र आता है। पृष्ठभूमि लाल के बजाय अब नीली व सुनहरी बनाई जाने लगी। मानवाकृतियों में भंगिमा आ गई। आंखों में कटाक्ष भर गए। अधर में लटकी आंख गायब हो गई। छाया व प्रकाश का अभाव, दृश्या का उन्मुक्त प्रयोग व गहराई की कमी इस शैली की चारित्रिक विशेषताएं थीं।

विषय-परिवर्तन के साथ ही रेखाओं की कोणात्मकता भी गोलाई में परिणत होने लगी। कपड़े बेल-बूटों से मंडित पारदर्शक बनाये जाने लगे। अंकन की ग्रामीणता टूटने लगी, आकृतियां चित्राकाश (pictorial space) में उचित स्थल पर रखी जाने लगीं, उनकी स्थितियों एवं मुद्राओं में विविधता आ गई, रंग श्रेणियां बढ़ गईं, रंग के तले अधिक संतुलित हो गये, आकृतियां विघटनात्मक तथा प्रतीकात्मक बनाई गई तथा सारा चित्र द्वि-आयामी हो गया। इस चित्र-शैली का जन्म जैन कला के गर्भ से हुआ है यह आने वाली संसार-प्रसिद्ध राजस्थानी कला की नींव थी—मौलिक एवं स्वयंभूत। इसने राजस्थानी कला को ही जन्म नहीं दिया वरन् भारतीय आधुनिक कला में भी कई आयाम जोड़े हैं।

जैन धर्म का सांस्कृतिक मूल्यांकन

•

डॉ० नरेन्द्र भानावत

धर्म और संस्कृति

संकीर्ण अर्थ में धर्म संस्कृति का जनक और पोषक है। व्यापक अर्थ में धर्म संस्कृति का एक अंग है। धर्म के सांस्कृतिक मूल्यांकन का अर्थ यह हुआ कि किसी धर्म विशेष ने मानव-संस्कृति के अभ्युदय और विकास में कहां तक योग दिया? संस्कृति जन का मस्तिष्क है और धर्म जन का हृदय। जब-जब संस्कृति ने कठोर रूप धारण किया, हिंसा का पथ अपनाया, अपने रूप को भयावह व विकृत बनाने का प्रयत्न किया, तब-तब धर्म ने उसे हृदय का प्यार लुटाकर कोमल बनाया, अहिंसा और करुणा की बरसात कर उसके रक्तानुरंजित पथ को शीतल और अमृतमय बनाया, संयम, तप और सदाचार से उसके जीवन को सौंदर्य और शक्ति का वरदान दिया। मनुष्य की मूल समस्या है—आनंद की खोज। यह आनंद तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि मनुष्य भयमुक्त न हो, आतंक-मुक्त न हो। इस भय-मुक्ति के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम तो यह कि मनुष्य अपने जीवन को इतना शीलवान, सदाचारी और निर्मल बनाए कि कोई उससे न डरे। द्वितीय यह कि वह अपने में इतना पुरुषार्थ, सामर्थ्य और बल संचित करे कि उसे डरा व धमका न सके। प्रथम शर्त को धर्म पूर्ण करता है और दूसरी को संस्कृति।

जैन धर्म और मानव-संस्कृति

जैन धर्म ने मानव संस्कृति को नवीन रूप ही नहीं दिया, उसके अमूर्त भाव-तत्त्व को प्रकट करने के लिए सभ्यता का विस्तार भी किया। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव इस मानव-संस्कृति के सूत्रधार बने। उनके पूर्व युगलियों का जीवन था, भोगमूलक दृष्टि की प्रधानता थी, कल्पवृक्षों के आधार पर जीवन चलता था। कर्म और कर्तव्य की भावना सुषुप्त थी। लोग न खेती करते थे, न व्यवसाय।

उनमें सामाजिक चेतना और लोक-दायित्व की भावना के अंकुर नहीं फूटे थे। भगवान ऋषभदेव ने भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्रतिष्ठा की। पेड़-पौधों पर निर्भर रहने वाले लोगों को खेती करना बताया। आत्मशक्ति से अनभिज्ञ रहनेवाले लोगों को अक्षर और लिपि का ज्ञान देकर पुरुषार्थी बनाया। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को संपुष्ट किया। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए हाथों में बल दिया। जड़ संस्कृति को कर्म की गति दी। चेतनाशून्य जीवन को सामाजिकता का बोध और सामूहिकता का स्वर दिया। पारिवारिक जीवन को मजबूत बनाया, विवाह-प्रथा का समारंभ किया। कला-कौशल और उद्योग-धंधों की व्यवस्था कर निष्क्रिय जीवन-यापन की प्रणाली को सक्रिय और सक्षम बनाया।

संस्कृति का परिष्कार और महावीर

अंतिम तीर्थंकर महावीर तक आते-आते इस संस्कृति में कई परिवर्तन हुए। संस्कृति के विशाल सागर में विभिन्न विचारधाराओं का मिलन हुआ। पर महावीर के समय इस सांस्कृतिक मिलन का कुत्सित और वीभत्स रूप ही सामने आया। संस्कृति का जो निर्मल और लोककल्याणकारी रूप था, वह अब विकार-ग्रस्त होकर चंद व्यक्तियों की ही संपत्ति बन गया। धर्म के नाम पर क्रियाकांड का प्रचार बढ़ा। यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की बलि दी जाने लगी। अश्वमेध ही नहीं, नरमेध भी होने लगे। वर्णाश्रम व्यवस्था में कई विकृतियां आ गईं। स्त्री और शूद्र अधम तथा नीच समझे जाने लगे। उनको आत्म-चिंतन और सामाजिक प्रतिष्ठा का कोई अधिकार न रहा। त्यागी-तपस्वी समझे जानेवाले लोग अब लाखों-करोड़ों की संपत्ति के मालिक बन बैठे। संयम का गला घोंटकर भोग और ऐश्वर्य किलकारियां मारने लगा। एक प्रकार का सांस्कृतिक संकट उपस्थित हो गया। इससे मानवता को उबारना आवश्यक था।

वर्द्धमान महावीर ने संवेदनशील व्यक्ति की भांति इस गंभीर स्थिति का अनुशीलन और परीक्षण किया। बारह वर्षों की कठोर साधना के बाद वे मानवता को इस संकट से उबारने के लिए अमृत ले आए। उन्होंने घोषणा की— सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा अधर्म है। सच्चा यज्ञ आत्मा को पवित्र बनाने में है। इसके लिए क्रोध की बलि दीजिए, मान को मारिए, माया को काटिए और लोभ का उन्मूलन कीजिए। महावीर ने प्राणी मात्र की रक्षा करने का उद्बोधन दिया। धर्म के इस अहिंसामय रूप ने संस्कृति को अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया। उसे जन-रक्षा (मानव-समुदाय) तक सीमित न रखकर समस्त प्राणियों की सुरक्षा का भार भी संभलवा दिया। यह जनतंत्र से भी आगे प्राणतंत्र की व्यवस्था का सुंदर उदाहरण है।

जैन धर्म ने सांस्कृतिक विषमता के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलंद की। वर्णाश्रम व्यवस्था की विकृति का शुद्धिकरण किया। जन्म के आधार पर उच्चता और नीचता का निर्णय करनेवाले ठेकेदारों को मुंहतोड़ जवाब दिया। कर्म के आधार पर ही व्यक्तित्व की पहचान की। हरिकेशी चांडाल और सद्दालपुत्र कुंभकार को भी आचरण की पवित्रता के कारण आत्म-साधकों में समुचित स्थान दिया।

अपमानित और अचल संपत्तिवत् मानी जानेवाली नारी के प्रति आत्म-सम्मान और गौरव की भावना जगाई। उसे धर्म-ग्रंथों को पढ़ने का ही अधिकार नहीं दिया वरन् आत्मा के चरम-विकास मोक्ष की भी अधिकारिणी माना। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार इस युग में सर्वप्रथम मोक्ष जानेवाली ऋषभ की माता मरुदेवी ही थी। नारी को अबला और शक्तिहीन नहीं समझा गया। उसकी आत्मा में भी उतनी ही शक्ति संभाव्य मानी गई जितनी पुरुष में। महावीर ने चंदनबाला की इसी शक्ति को पहचानकर उसे साध्वियों का नेतृत्व प्रदान किया। नारी को दब्बू, आत्मभीरु और साधनाक्षेत्र में बाधक नहीं माना गया। उसे साधना में पतित पुरुष को उपदेश देकर संयम-पथ पर लानेवाली प्रेरक शक्ति के रूप में देखा गया। राजुल ने संयम से पतित रथनेमि को उद्‍बोधन देकर अपनी आत्मशक्ति का ही परिचय नहीं दिया वरन् तत्त्वज्ञान का पांडित्य भी प्रदर्शित किया।

सांस्कृतिक समन्वय और भावात्मक एकता

जैन धर्म ने सांस्कृतिक समन्वय और एकता की भावना को भी बलवती बनाया। यह समन्वय विचार और आचार दोनों क्षेत्रों में देखने को मिलता है। विचार-समन्वय के लिए अनेकांत दर्शन की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भगवान महावीर ने इस दर्शन की मूल भावना का विश्लेषण करते हुए सांसारिक प्राणियों को बोध दिया—"किसी बात को, सिद्धांत को एक तरफ से मत देखो, एक ही तरह उस पर विचार मत करो। तुम जो कहते हो वह सच होगा, पर दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है। इसलिए सुनते ही भड़को मत, वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो।"

आज संसार में जो तनाव और द्वंद्व है वह दूसरों के दृष्टिकोण को न समझने या विपर्यय रूप से समझने के कारण है। अगर अनेकांतवाद के आलोक में सभी राष्ट्र और व्यक्ति चिंतन करने लग जाएं तो झगड़े की जड़ ही न रहे। संस्कृति के रक्षण और प्रसार में जैन धर्म की यह देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आचार-समन्वय की दिशा में मुनि-धर्म और गृहस्थ-धर्म की व्यवस्था दी गई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामंजस्य किया गया है। ज्ञान और क्रिया का, स्वाध्याय और सामायिक का संतुलन इसीलिए आवश्यक माना गया है। मुनि-धर्म के लिए महाव्रतों के परिपालन का विधान है। वहां सर्वथा प्रकारेण हिंसा, झूठ, चोरी,

मैथुन और परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। गृहस्थ-धर्म में अणुव्रतों की व्यवस्था दी गई है, जहां यथाशक्य इन आचार-नियमों का पालन अभिप्रेत है। प्रतिमाधारी श्रावक वानप्रस्थाश्रमी की तरह और साधु संन्यासाश्रमी की तरह माना जा सकता है।

सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से जैन धर्म का मूल्यांकन करते समय यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उसने संप्रदायवाद, जातिवाद, प्रांतीयतावाद आदि सभी मतभेदों को त्यागकर राष्ट्र-देवता को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्हीं दायरों में वह धर्म बंधा हुआ रहता है। पर जैन धर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रांत विशेष में ही बंधा हुआ नहीं रहा। उसने भारत के किसी एक भाग विशेष को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का और चिंतना का क्षेत्र नहीं बनाया। वह संपूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला। धर्म का प्रचार करनेवाले विभिन्न तीर्थंकरों की जन्मभूमि दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली आदि अलग-अलग रही है। भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए तो उनका साधना-क्षेत्र व निर्वाण-स्थल मगध (दक्षिण बिहार) रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म तो वाराणसी में हुआ पर उनका निर्वाण-स्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या में जन्मे पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान अरिष्टनेमि का कर्म व धर्मक्षेत्र रहा गुजरात। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैन धर्म संपूर्ण राष्ट्र में फैला। देश की चप्पा-चप्पा भूमि इस धर्म की श्रद्धा और शक्ति का आधार बनी। दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर स्थित बाहुबलि के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैन धर्म की यह सांस्कृतिक एकता भूमिगत ही नहीं रही, भाषा और साहित्य में भी उसने समन्वय का यह औदार्य प्रकट किया। जैनाचार्यों ने संस्कृत को ही नहीं, अन्य सभी प्रचलित लोकभाषाओं को अपनाकर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहां-जहां भी वे गए, वहां-वहां की भाषाओं को चाहे वे आर्य परिवार की हों, चाहे द्रविड़ परिवार की—अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज अब भाषा के नाम पर विवाद और मतभेद हैं, तब ऐसे समय में जैन धर्म की यह उदार दृष्टि अभिनंदनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

साहित्यिक समन्वय की दृष्टि से तीर्थंकरों के अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे लोकप्रिय चरित्रनायकों को जैन साहित्यकारों ने सम्मान का स्थान दिया। ये चरित्र जैनियों के अपने बनकर आए हैं। यही नहीं, जो पात्र अन्यत्र घृणित और बीभत्स दृष्टि से चित्रित किए गए हैं, वे भी यहां उचित सम्मान के अधिकारी बने हैं। इसका कारण शायद यह रहा कि जैन साहित्यकार अनार्य भावनाओं को किसी

प्रकार की ठेस नहीं पहुंचाना चाहते थे। यही कारण है कि वासुदेव के शत्रुओं को भी प्रतिवासुदेव का उच्च पद दिया गया है। नाग, यक्ष आदि को भी अनार्य न मानकर तीर्थंकरों का रक्षक माना है और उन्हें देवालयों में स्थान दिया है। कथा-प्रबन्धों में जो विभिन्न छंद और राग-रागनियां प्रयुक्त हुई हैं उनकी तर्जें वैष्णव साहित्य के सामंजस्य को सूचित करती हैं। कई जैनेतर संस्कृत और डिंगल ग्रंथों की लोकभाषाओं में टीकाएं लिखकर भी जैन विद्वानों ने इस सांस्कृतिक विनिमय को प्रोत्साहन दिया है।

जैन धर्म अपनी समन्वय भावना के कारण ही सगुण और निर्गुण भक्ति के झगड़े में नहीं पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास के समय इन दोनों भक्ति-धाराओं में जो समन्वय दिखाई पड़ता है, उसके बीज जैन भक्तिकाव्य में आरम्भ से मिलते हैं। जैन दर्शन में निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान के स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। पंचपरमेष्ठी महामंत्र (णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं आदि) में सगुण और निर्गुण भक्ति का कितना सुन्दर मेल बिठाया है। अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते हैं। उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नहीं होता, उन्हें हम देख नहीं सकते। एक ही मंगलाचरण में इस प्रकार का समभाव कम देखने को मिलता है।

जैन कवियों ने काव्य-रूपों के क्षेत्र में भी कई नये प्रयोग किए। उसे संकीर्ण परिधि से बाहर निकालकर व्यापकता का मुक्त क्षेत्र दिया। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रबंध-मुक्तक की चली आती हुई काव्य-परम्परा को इन कवियों ने विभिन्न रूपों में विकसित कर काव्यशास्त्रीय जगत् में एक क्रांति-सी मचा दी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रबंध और मुक्तक के बीच काव्य-रूपों में कई नये स्तर इन कवियों ने निर्मित किए।

जैन कवियों ने नवीन काव्य-रूपों के निर्माण के साथ-साथ प्रचलित काव्य-रूपों को नई भाव-भूमि और मौलिक अर्थवत्ता भी दी। इन सबमें उनकी व्यापक, उदार दृष्टि ही काम करती रही है। उदाहरण के लिए वेलि, बारहमासा, विवाहलो रासो, चौपाई, संधि आदि काव्य-रूपों के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। 'वेलि' संज्ञक काव्य डिंगल शैली में सामान्यत: वेलियो छंद में ही लिखा गया है पर जैन कवियों ने 'वेलि' काव्य को छंद विशेष की सीमा से बाहर निकालकर वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टि से व्यापकता प्रदान की। 'बारहमासा' काव्य ऋतु काव्य रहा है जिसमें नायिका एक-एक माह के क्रम से अपना विरह-प्रकृति के विभिन्न उपादानों के माध्यम से व्यक्त करती है। जैन कवियों ने 'बारहमासा' की इस विरह-निवेदन-प्रणाली को आध्यात्मिक रूप देकर इसे शृंगार क्षेत्र से बाहर निकालकर भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र तक आगे बढ़ाया। 'विवाहलो' संज्ञक काव्य में सामान्यत: नायक-नायिका के विवाह का वर्णन रहता है, जिसे 'ब्याहलो' भी कहा

जाना है। जैन कवियों ने इस 'विवाहलो' संज्ञक काव्य को भी आध्यात्मिक रूप दिया। इसमें नायक का किसी स्त्री से परिणय न दिखाकर संयमश्री और दीक्षा कुमारी जैसी अमूर्त भावनाओं को परिणय के बंधन में बांधा गया। रासो, संधि और चौपाई जैसे काव्य-रूपों को भी इसी प्रकार नया भाव-बोध दिया। 'रासो' यहां केवल युद्धपरक वीर काव्य का व्यंजक न रहकर प्रेमपरक गेय काव्य का प्रतीक बन गया। 'संधि' शब्द अपभ्रंश महाकाव्य के सर्ग का वाचक न रहकर विशिष्ट काव्य विधा का ही प्रतीक बन गया। 'चौपाई' संज्ञक काव्य चौपाई छंद में ही बंधा न रहा, वह जीवन की व्यापक चित्रण-क्षमता का प्रतीक बनकर छंद की रूढ़ कारा से मुक्त हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन कवियों ने एक ओर काव्य रूपों की परंपरा के धरातल को व्यापकता दी तो दूसरी ओर उसको बहिरंग से अन्तरंग की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी खींचा।

यहां यह भी स्मरणीय है कि जैन कवियों ने केवल पद्य के क्षेत्र में ही नवीन काव्य-रूप नहीं खड़े किये वरन गद्य के क्षेत्र में भी कई नवीन काव्य-रूपों गुर्वावली, पट्टावली, उत्पत्ति ग्रंथ, दफ्तर बही, ऐतिहासिक टिप्पण, ग्रंथ प्रशस्ति, बचनिका दवावैट, सिलोका, बालाव बोध आदि की सृष्टि की। यह सृष्टि इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके द्वारा हिंदी गद्य का प्राचीन ऐतिहासिक विकास स्पष्ट होता है। हिंदी के प्राचीन ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य में इन काव्य-रूपों की देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

जैन धर्म का लोक-संग्राहक रूप

धर्म का आविर्भाव जब कभी हुआ विषमता में समता, अव्यवस्था में व्यवस्था और अपूर्णता में सम्पूर्णता स्थापित करने के लिए ही हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि इसके मूल में वैयक्तिक अभिक्रम अवश्य रहा पर उसका लक्ष्य समष्टिमूलक हित ही रहा है, उसका चिंतन लोकहित की भूमिका पर ही अग्रसर हुआ है।

पर सामान्यतः जब कभी जैन धर्म या श्रमण धर्म के लोक-संग्राहक रूप की चर्चा चलती है तब लोग चुप्पी साध लेते हैं। इसका कारण मेरी समझ में शायद यह रहा है कि जैन दर्शन में वैयक्तिक मोक्ष की बात कही गई है, सामूहिक-निर्वाण की बात नहीं। पर जब हम जैन दर्शन का सम्पूर्ण संदर्भों में अध्ययन करते हैं तो उसके लोक-संग्राहक रूप का मूल उपादान प्राप्त हो जाता है।

लोक-संग्राहक रूप का सबसे बड़ा प्रमाण है लोकनायकों के जीवन-क्रम की पवित्रता, उनके कार्य-व्यापारों की परिधि और जीवन-लक्ष्य की व्यापकता। जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथों में ऐसे कई उल्लेख आते हैं कि राजा श्रावक धर्म अंगीकार कर, अपनी सीमाओं में रहते हुए, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों का संचालन एवं

प्रसारण करता है। पर काल-प्रवाह के साथ उसका चिंतन बढ़ता चलता है और वह देशविरति श्रावक से सर्वविरति श्रमण बन जाता है। सांसारिक माया-मोह, पारिवारिक प्रपंच, देह-आसक्ति आदि से विरत होकर वह सच्चा साधु, तपस्वी और लोक-सेवक बन जाता है। इस रूप या स्थिति को अपनाते ही उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उसका हृदय अत्यंत उदार बन जाता है। लोक-कल्याण में व्यवधान पैदा करने वाले सारे तत्त्व अब पीछे छूट जाते हैं और वह जिस साधना के पथ पर बढ़ता है उसमें न किसी के प्रति राग है, न द्वेष। वह सच्चे अर्थों में श्रमण है।

श्रमण के लिए शमन, समन, समण आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। उनके मूल में भी लोक-संग्राहक वृत्ति काम करती रही है। लोक-संग्राहक वृत्ति का धारक सामान्य पुरुष हो ही नहीं सकता। उसे अपनी साधना से विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना पड़ता है। क्रोधादि कषायों का शमन करना पड़ता है, पांच इंद्रियों और मन को वशवर्ती बनाना पड़ता है, शत्रु-मित्र तथा स्वजन-परिजन की भेद-भावना को दूर हटाकर सबमें समान मन को नियोजित करना पड़ता है, समस्त प्राणियों के प्रति समभाव की धारणा करनी पड़ती है। तभी उसमें सच्चे श्रमण-भाव का रूप उभरने लगता है। वह विशिष्ट साधना के कारण तीर्थंकर तक बन जाता है। ये तीर्थंकर तो लोकोपदेशक ही होते हैं।

इस महान साधना को जो साध लेता है, वह श्रमण बारह उपमाओं से उपमित किया गया है—

उरग गिरि जलण सागर,
णहतल तरूगणसमोय जो होइ।
भमर मिय धरणि जलरुह,
रवि पवण समोय सो समणो ॥

अर्थात् जो सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्षपांक्ति, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है, वह श्रमण कहलाता है।

ये सब उपमाएं साभिप्राय दी गई हैं। सर्प की भांति ये साधु भी अपना कोई घर (बिल) नहीं बनाते। पर्वत की भांति ये परीषहों और उपसर्गों की आंधी से डोलायमान नहीं होते। अग्नि की भांति ज्ञान-रूपी ईंधन से ये तृप्त नहीं होते। समुद्र की भांति अथाह ज्ञान को प्राप्त कर भी ये तीर्थंकर की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। आकाश की भांति ये स्वाश्रयी, स्वावलम्बी होते हैं, किसी के अवलम्बन पर नहीं टिकते। वृक्ष की भांति समभावपूर्वक दुख-सुख के तापातप को सहन करते हैं। भ्रमर की भांति किसी को बिना पीड़ा पहुंचाये शरीर-रक्षा के लिए आहार ग्रहण करते हैं। मृग की भांति पापकारी प्रवृत्तियों के सिंह से दूर रहते हैं। पृथ्वी की भांति शीत, ताप, छेदन-भेदन आदि कष्टों को समभावपूर्वक सहन करते हैं।

कमल की भांति वासना के कीचड़ और वैभव के जल से अलिप्त रहते हैं। सूर्य की भांति स्वसाधना एवं लोकोपदेशना के द्वारा अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं। पवन की भांति सर्वत्र अप्रतिबद्ध रूप से विचरण करते हैं। ऐसे श्रमणों का वैयक्तिक स्वार्थ हो ही क्या सकता है ?

ये श्रमण पूर्ण अहिंसक होते हैं। षटकाय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेडकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) जीवों की रक्षा करते हैं। न किसी को मारते हैं, न किसी को मारने की प्रेरणा देते हैं और न जो प्राणियों का वध करते हैं उनकी अनुमोदना करते हैं। इनका यह अहिंसा-प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म और गंभीर होता है।

ये अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी उपासक होते हैं। किसी की वस्तु बिना पूछे नहीं उठाते। कामिनी और कंचन के सर्वथा त्यागी होते हैं। आवश्यकता से भी कम वस्तुओं की सेवना करते हैं। संग्रह करना तो इन्होंने सीखा ही नहीं। ये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का वध नहीं करते, हथियार उठाकर किसी अत्याचारी-अन्यायी राजा का नाश नहीं करते, लेकिन इससे उनके लोक-संग्रही रूप में कोई कमी नहीं आती। भावना की दृष्टि से तो उसमें और वैशिष्ट्य आता है। ये श्रमण पापियों को नष्ट कर उनको मौत के घाट नहीं उतारते वरन् उन्हें आत्मबोध और उपदेश देकर सही मार्ग पर लाते हैं। ये पापी को मारने में नहीं, उसे सुधारने में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि महावीर ने विषदृष्टि सर्प चण्डकौशिक को मारा नहीं वरन् अपने प्राणों को खतरे में डालकर, उसे उसके आत्मस्वरूप से परिचित कराया। बस, फिर क्या था ! वह विष से अमृत बन गया। लोक-कल्याण की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और गहरी है।

इनका लोक-संग्राहक रूप मानव सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है। ये मानव के हित के लिए अन्य प्राणियों का बलिदान करना व्यर्थ ही नहीं, धर्म-विरुद्ध समझते हैं। इनकी यह लोक-संग्रह की भावना इसीलिए जनतंत्र से आगे बढ़कर प्राणतंत्र तक पहुंची है। यदि अयतना से किसी जीव का वध हो जाता है या प्रमादवश किसी को कष्ट पहुंचता है तो ये उन सब पापों से दूर हटने के लिए प्रातः-सायं प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) करते हैं। ये नंगे पैर पैदल चलते हैं। गांव-गांव और नगर-नगर में विचरण कर सामाजिक चेतना और सुषप्त पुरुषार्थ को जागृत करते हैं। चातुर्मास के अलावा किसी भी स्थान पर नियत वास नहीं करते। अपने पास केवल इतनी वस्तुएं रखते हैं जिन्हें ये अपने आप उठाकर भ्रमण कर सकें। भोजन के लिए गृहस्थों के यहां से भिक्षा लाते हैं। भिक्षा भी जितनी आवश्यक होती है उतनी ही। दूसरे समय के लिए भोजन का संचय ये नहीं करते। रात्रि में न पानी पीते हैं, न कुछ खाते हैं।

इनकी दैनिक चर्या भी बड़ी पवित्र होती है। दिन-रात ये स्वाध्याय-मनन-चिंतन-लेखन और प्रवचन आदि में लगे रहते हैं। सामान्यत: ये प्रतिदिन संसार के प्राणियों को धर्म-बोध देकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इनका समूचा जीवन लोक-कल्याण में ही लगा रहता है। इस लोक-सेवा के लिए ये किसी से कुछ नहीं लेते।

श्रमण धर्म की यह आचारनिष्ठ दैनन्दिन चर्या इस बात का प्रबल प्रमाण है कि ये श्रमण सच्चे अर्थों में लोक-रक्षक और लोक-सेवी हैं। यदि आपद्काल में अपनी मर्यादाओं से तनिक भी इधर-उधर होना पड़ता है तो उसके लिए भी ये दंड लेते हैं, व्रत-प्रत्याख्यान करते हैं। इतना ही नहीं, जब कभी अपनी साधना में कोई बाधा आती है तो उसकी निवृत्ति के लिए परीषह और उपसर्ग आदि की सेवना करते हैं। मैं नहीं कह सकता, इससे अधिक आचरण की पवित्रता, जीवन की निर्मलता और लक्ष्य की सार्वजनीनता और किस लोक-संग्राहक की होगी ?

श्रमण धर्म के लोक-संग्राहक रूप पर प्रश्नवाचक चिह्न इसलिए लगा हुआ है कि उसमें साधना का फल मुक्ति माना है—ऐसी मुक्ति जो वैयक्तिक उत्कर्ष की चरम सीमा है। बौद्ध धर्म का निर्वाण भी वैयक्तिक है। बाद में चलकर बौद्ध धर्म की एक शाखा महायान ने सामूहिक निर्वाण की चर्चा की। मेरी मान्यता है कि जैन दर्शन की वैयक्तिक मुक्ति की कल्पना सामाजिकता की विरोधिनी नहीं है; क्योंकि श्रमण-धर्म ने मुक्ति पर किसी का एकाधिकार नहीं माना है। जो अपने आत्म-गुणों का चरम विकास कर सकता है, वह इस परम पद को भी प्राप्त कर सकता है और आत्म-गुणों के विकास के लिए समान अवसर दिलाने के लिए जैन धर्म हमेशा संघर्षशील रहा है।

भगवान महावीर ने ईश्वर के रूप को एकाधिकार के क्षेत्र से बाहर निकालकर समस्त प्राणियों की आत्मा में उतारा। आवश्यकता इस बात की है कि प्राणी साधना-पथ पर बढ़ सके। साधना के पथ पर जो बंधन और बाधा थी, उसे महावीर ने तोड़ गिराया। जिस परम पद की प्राप्ति के लिए वे साधना कर रहे थे, जिस स्थान को उन्होंने अमर सुख का घर और अनंत आनंद का आवास माना, उसके द्वार सबके लिए खोल दिये। द्वार ही नहीं खोले, वहां तक पहुंचने का रास्ता भी बता दिया।

जैन दर्शन में मानव शरीर और देव शरीर के संबंध में जो चिंतन चला है, उससे भी लोक-संग्राहक वृत्ति का पता चलता है। परमशक्ति और परमपद की प्राप्ति के लिए साधना और पुरुषार्थ की जरूरत पड़ती है। यह पुरुषार्थ, कर्तव्य की पुकार और बलिदान की भावना मानव को ही प्राप्त है, देव को नहीं। देव-शरीर में वैभव-विलास को भोगने की शक्ति तो है पर नये पुण्यों के संचय की ताकत नहीं। देवता जीवन-साधना के पथ पर बढ़ नहीं सकते, केवल उसकी

ऊंचाई को स्पर्श कर सकते हैं। कर्मक्षेत्र में कूदने की शक्ति तो मानव के पास ही है। इसीलिए जैन धर्म में भाग्यवाद को स्थान नहीं है। वहां कर्म की ही प्रधानता है। वैदिक धर्म में जो स्थान स्तुति, प्रार्थना और उपासना को दिया गया है वही स्थान श्रमण-धर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को मिला है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रमण-धर्म का लोक-संग्राहक रूप स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है, बाह्य की अपेक्षा आंतरिक अधिक है। उसमें देवता बनने के लिए जितनी तड़प नहीं, उतनी तड़प संपूर्ण संसार को कषाय आदि पाप-कर्मों से मुक्त कराने की है। इस मुक्ति के लिए वैयक्तिक अभिक्रम की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो जैन-साधना के लोक-संग्राहक रूप की नींव है।

जैन धर्म जीवन-संपूर्णता का हिमायती

सामान्यतः यह कहा जाता है कि जैन धर्म ने संसार को दुखमूलक बताकर निराशा की भावना फैलाई है, जीवन में संयम और विराग की अधिकता पर बल देकर उसकी अनुराग-भावना और कला-प्रेम को कुंठित किया है। पर यह कथन साधार नहीं है, भ्रांतिमूलक है। यह ठीक है कि जैन धर्म ने संसार को दुखमूलक माना, पर किसलिए ? अखंड आनंद की प्राप्ति के लिए, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए। यदि जैन धर्म संसार को दुखपूर्ण मानकर ही रुक जाता, सुख-प्राप्ति की खोज नहीं करता, उसके लिए साधना मार्ग की व्यवस्था नहीं देता तो हम उसे निराशावादी कह सकते थे, पर उसमें तो मानव को महात्मा बनाने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की आस्था का बीज छिपा हुआ है। दैववाद के नाम पर अपने को असह्य और निर्बल समझी जाने वाली जनता को किसने आत्म-जागृति का संदेश दिया ? किसने उसके हृदय में छिपे हुए पुरुषार्थ को जगाया ? किसने उसे अपने भाग्य का विधाता बनाया ? जैन धर्म की यह विचारधारा युगों बाद आज भी बुद्धिजीवियों की धरोहर बन रही है, संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही है।

यह कहना भी कि जैन धर्म निरा निवृत्तिमूलक है, ठीक नहीं है। जीवन के विधान पक्ष को भी उसने महत्त्व दिया है। इस धर्म के उपदेशक तीर्थंकर लौकिक-अलौकिक वैभव के प्रतीक हैं। दैहिक दृष्टि से वे अनंत बल, अनंत सौंदर्य और अनंत पराक्रम के धनी होते हैं। इंद्रादि मिलकर पंच कल्याणक महोत्सवों की आयोजना करते हैं। उपदेश देने का उनका स्थान (समवसरण) कलाकृतियों से अलंकृत होता है। जैन धर्म ने जो निवृत्तिमूलक बातें कही हैं वे केवल उच्छृंखलता और असंयम को रोकने के लिए ही।

जैन धर्म की कलात्मक देन अपने आप में महत्त्वपूर्ण और अलग से अध्ययन की अपेक्षा रखती है। वास्तुकला के क्षेत्र में विशालकाय कलात्मक मंदिर, मेरु-

पर्वत की रचना, नंदीश्वर द्वीप व समवसरण की रचना, मानस्तंभ, चैत्यवृक्ष, स्तूप आदि उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला में विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्तियां देखी जा सकती हैं। चित्रकला में भित्तिचित्र, ताड़पत्रीय चित्र, काष्ठ चित्र, लिपिचित्र, वस्त्र पर चित्र आश्चर्य में डालने वाले हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय कर जैन धर्म ने संस्कृति को लचीला बनाया है। उसकी कठोरता को कला की बांह दी है तो उसकी कोमलता को संयम का आवरण। इसीलिए वह आज भी जीती-जागती है।

आधुनिक भारत के नवनिर्माण में योग

आधुनिक भारत के नवनिर्माण की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों में जैन धर्मावलंबियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अणुव्रत आंदोलन इसी चेतना का प्रतीक है अधिकांश सम्पन्न जैन श्रावक अपनी आय का एक निश्चित भाग लोकोपकारी प्रवृत्तियों में व्यय करने के व्रती रहे हैं। जीव-दया, पशुबलि-निषेध, स्वधर्मी वात्सल्यफंड, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम जैसी अनेक प्रवृत्तियों के माध्यम से असहाय लोगों को सहायता मिली है। समाज में निम्न और घृणित समझे जाने वाले खटीक जाति के भाइयों में प्रचलित कुव्यसनों को मिटाकर उन्हें सात्विक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाला धर्मपाल प्रवृत्ति का रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसक समाज-रचना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। लौकिक शिक्षण के साथ-साथ नैतिक शिक्षण के लिए आज देश के विभिन्न क्षेत्रों में कई जैन शिक्षण संस्थाएं, स्वाध्याय-शिविर और छात्रावास कार्यरत हैं। निर्धन और मेधावी छात्रों को अपने शिक्षण में सहायता पहुंचाने के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर बने कई धार्मिक और पारमार्थिक ट्रस्ट हैं जो छात्रवृत्तियां और ऋण देते हैं।

जन-स्वास्थ्य के सुधार की दिशा में भी जैनियों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कई अस्पताल और औषधालय खोले गये है, जहां रोगियों को निःशुल्क तथा रियायती दरों पर चिकित्सा-सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

जैन साधु और साध्वियां वर्षा ऋतु के चार महीनों में पद-यात्रा नहीं करते। वे एक ही स्थान पर ठहरते हैं जिसे 'चातुर्मास' करना कहते हैं। इस काल में जैन लोग तप, त्याग, प्रत्याख्यान, संघ-यात्रा, तीर्थ-यात्रा, मुनि-दर्शन, उपवास, आयम्बिल, मासखमण, संवत्सरी, क्षमापर्व जैसे विविध उपासना-प्रकारों द्वारा आध्यात्मिक जागृति के विविध कार्यक्रम बनाते हैं। इससे व्यक्तिगत जीवन निर्मल, स्वस्थ और उदार बनता है तथा सामाजिक जीवन में बंधुत्व, मैत्री, वात्सल्य जैसे भावों की वृद्धि होती है।

अधिकांश जैन धर्मावलम्बी कृषि, वाणिज्य और उद्योग पर निर्भर हैं। देश

के विभिन्न क्षेत्रों में ये फैले हुए हैं। बंगाल, बिहार, तमिलनाडु, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में इनके बड़े-बड़े उद्योग-प्रतिष्ठान हैं। अपने आर्थिक संगठनों द्वारा इन्होंने राष्ट्रीय उत्पादन तो बढ़ाया ही है, देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जन करने में भी इनकी विशेष भूमिका रही है। जैन संस्कारों के कारण मर्यादा से अधिक आय का उपयोग वे सार्वजनिक स्तर के कल्याण-कार्यों में करते रहे हैं।

राजनीतिक चेतना के विकास में भी जैनियों का सक्रिय योग रहा है। भामाशाह की परम्परा को निभाते हुए कइयों ने राष्ट्रीय रक्षा कोष में पुष्कल राशि समर्पित की है। स्वतंत्रता से पूर्व देशी रियासतों में कई जैन श्रावक राज्यों के दीवान और सेनापति जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करते रहे हैं। स्वतंत्रता-संग्राम में क्षेत्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व भी उन्होंने संभाला है। अहिंसा, सत्याग्रह, भूमिदान, सम्पत्तिदान, भूमि-सीमाबंदी, आयकर प्रणाली, धर्म-निरपेक्षता जैसे वर्तमान सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में जैन-दर्शन की भावधारा न्यूनाधिक रूप से प्रेरक कारण रही है।

प्राचीन साहित्य के संरक्षक के रूप में जैन धर्म की विशेष भूमिका रही है। जैन साधुओं ने न केवल मौलिक साहित्य की सर्जना की वरन् जीर्ण-शीर्ण दुर्लभ ग्रंथों का प्रतिलेखन कर उनकी रक्षा की और स्थान-स्थान पर ग्रंथ-भंडारों की स्थापना कर इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रखा। राजस्थान और गुजरात के ज्ञान भंडार इस दृष्टि से राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के प्रकाशन का कार्य भी जैन शोध संस्थानों ने अब अपने हाथ में लिया है। जैन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को स्वस्थ और सदाचारयुक्त बनाने की दिशा में बड़ी प्रेरणा और शक्ति मिलती रही है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन धर्म की दृष्टि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास पर रही है। उसने मानव-जीवन की सफलता को ही मुख्य नहीं माना, उसका बल रहा उसकी सार्थकता और आत्मशुद्धि पर।

सोवियत गणराज्य और पश्चिम एशियाई देशों में जैन-तीर्थ

•

डॉ० ब्रजमोहन जावलिया

भारतीय ऋषि-मुनियों और साहसी पर्यटकों के माध्यम से प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति विश्व के दूरस्थ अनेक भू-भागों तक व्याप्त हो गई थी। अनेक आर्य कबीलों ने भारत से बाहर जाकर इन भू-भागों में अपने निवास-स्थान भी बना लिये थे। एक समय ऐसा भी आया जब भारत में वैचारिक संघर्ष छिड़ गया, विदेशी विचारों के सम्मिश्रण से वैदिक-धर्म में विकृतियां व्याप्त हो गईं और फलतः अनेक अवैदिक मत-मतान्तरों का इस देश में प्रादुर्भाव हुआ। वेदों की साक्षियां दे-देकर इन मतों के प्रवर्तक भोली भारतीय जनता को बहकाने लगे और इनकी आड़ में अनेक अनाचार करने लगे। इस अवस्था में भारतीयों का विदेशियों और विदेशों में बसे भारत-वंशी प्रवासियों से संबंध लगभग टूट-सा गया। भारत में तो अज्ञानान्धकार फैल ही रहा था—भारत से बाहर स्थित इन देशों की अवस्था भारत से भी बुरी थी।

ऐसी ही अवस्था में बुद्ध और महावीर ने जन्म लेकर आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व धर्म का पुनरुद्धार कर भारतीय संस्कृति का विश्व में पुनः प्रसार करने का बीड़ा उठाया था। बुद्ध के द्वारा संस्थापित बौद्ध-धर्म को अशोक जैसे महान् सम्राट का प्रश्रय मिल गया और उसी का अवलम्बन पाकर वह शीघ्र ही सम्पूर्ण एशिया में व्याप्त हो गया। उत्साही बौद्ध भिक्षुक शताब्दियों तक विदेशों में जा-जाकर अनेक कष्ट सहन करते हुए धर्म का प्रचार करते रहे। पर जैन धर्म का प्रसार भारत से बाहर नहीं हो पाया। राजा-महाराजाओं को दीक्षित कर उनके माध्यम से शीघ्रातिशीघ्र अपने धर्म का प्रचार करने की विधि जैन आचार्यों ने भी अपनायी पर उसका लाभ शायद उन्हें भारत से बाहर अपना प्रचार करने में नहीं मिल सका। बौद्ध धर्मावलंबी धर्म-प्रचारकों ने अपना सारा ध्यान विदेशों में प्रचार-हेतु केन्द्रित कर लिया और स्वयं इस धर्म की जन्मभूमि भारत में इसे सुदृढ़ करने का विशेष प्रयास नहीं किया—यही कारण है कि थोड़े ही समय बाद शंकराचार्य

के तूफानी प्रचार ने इस धर्म का भारत में अस्तित्व ही सदा के लिए समाप्त कर दिया, जबकि जैन-धर्म इस तूफानी झटके को सहन कर गया और आज भी उसका अस्तित्व इस देश में बना हुआ है।

बौद्ध धर्म के संपूर्ण एशिया खंड में व्याप्त हो जाने और बौद्ध-धर्मावलंबी भारतीय भिक्षुकों के विदेशों में आवागमन के प्राप्त प्रमाणों से यह तो सिद्ध ही है कि भारतीयों का विदेशों में इस काल में बेरोक-टोक आना-जाना होता था— ऐसी अवस्था में जैन विद्वानों ने भारत से बाहर जाकर अवश्य ही स्वधर्म-प्रचार किया होगा—पर अद्यावधि ऐसे कोई प्रमाण देखने में नहीं आये हैं जिनसे यह बात सिद्ध होती हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनियों का स्वल्प प्रचार बौद्ध-धर्म के विशाल धार्मिक अभियान में दबकर रह गया। दोनों धर्मों के सिद्धान्तों में स्थूल रूप से समानता के कारण भी संभवतः बाह्य देशों में उन्हें अलग करके नहीं देखा गया होगा। स्वयं भारत में भी जब सुदीर्घ काल तक यही स्थिति रही है तो विदेशों में भी यदि ऐसा समझा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैनधर्म-ग्रंथ भी विदेशों में जैन धर्म के प्रसार के विषय में संभवतः मौन-से दिखाई देते हैं। कतिपय जैन-आख्यानों में जैन व्यापारियों द्वारा व्यापारिक संबंधों और समुद्री-यात्राओं की सूचना अवश्य ही हमें प्राप्त होती हैं— पर धार्मिक प्रचार की नहीं। ऐसी स्थिति में अद्यावधि प्राप्त बाह्य देशों की बौद्ध-धर्म के प्रभाव को बताने वाली पुरातात्त्विक सामग्री तथा भारतीय और विदेशी संपूर्ण बौद्ध और जैन वाङ्मय के निष्पक्ष पुनरध्ययन से ही इस रहस्य का उद्‌घाटन हो सकता है।

आज से तीन-चार शताब्दियों पूर्व के कतिपय हस्तलिखित ग्रंथों में हमें ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं जिनसे अवश्य यह सिद्ध होता है कि भारत से बाहर भी अफ़गानिस्तान, ईरान, ईराक, टर्की आदि देशों तथा सोवियत रूस के अजोव सागर से ओब की खाड़ी से भी उत्तर तक तथा लाटविया से अल्लाई के पश्चिमी छोर तक किसी काल में जैन-धर्म का व्यापक प्रसार था। इन प्रदेशों में अनेक जैन मंदिरों, जैन-तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियों, धर्म-शास्त्रों तथा जैन-मुनियों की विद्यमानता का भी इनमें उल्लेख है। कतिपय व्यापारियों और पर्यटकों ने, जो इसी दो-तीन शताब्दियों में हुए हैं, इन विवरणों में यह दावा किया है कि वे स्वयं इन स्थानों की अनेक कष्ट सहन करके यात्रा कर आये हैं।

ऐसे विवरणों में सर्वप्रथम विवरण बुलाकीदास खत्री का है, जो सं० १६८२ (सन् १६२५ ई०) में घोड़ों का काफिला लेकर अपने साथियों के साथ उत्तरापथ के नगरों की यात्रा पर निकला था और विभिन्न नगरों और तीर्थों की यात्रा करता हुआ नौ वर्ष बाद लौटकर अपने घर आगरा पहुंचा, जहां से उसने अपनी यात्रा प्रारंभ की थी। इस यात्रा में उसने आगरा से निकलकर लाहौर, मुल्तान, कंधार, इस्फहान (इसका नगर), खुरासान, इस्तंबूल (आसतंबोल), बब्बर,

बब्बरकूल या बाबर तथा तारा तंबोल नगरों को देखा, जिनमें से कतिपय नगरों का उसने सविस्तर वर्णन भी किया है। इन नगरों के मध्य की पारस्परिक दूरी उसने क्रमश: ३००, १५०, ३००, ८००, ६००, १२००, ५०० और ७०० कोस दी है। विभिन्न हस्तलिखित ग्रंथों में इस विवरण के अनेक संस्करण मिलते हैं, जिनमें यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत अंतर भी है। एक संस्करण में काबुल और परेसमान नगरों का भी यात्रा-मार्ग में उल्लेख है। स्व० मुनि कान्तिसागर[1], श्री सागरमल कोठारी[2], स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल[3] एवं श्री अगरचंद नाहटा ने भी इस विवरण के कई एक संस्करण प्रकाशित करा दिये हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा ने तपागच्छीय शील विजय द्वारा सं० १७४६ वि० (सन् १६८६) में विरचित तीर्थमाला ग्रंथ का एक 'उत्तर दिशि के जैन-तीर्थ' विषयक खंड भी आज से चौदह वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कराया था।[4] प्रतीत होता है तीर्थमाला का यह खंड बुलाकीदास के ही विवरण के आधार पर तैयार किया गया था, जिसे शीलविजय ने अपने गुरु से सुनना कहा है। शीलविजय ने तीर्थों का क्रम प्राय: वही रखा है जो बुलाकीदास का है— नगरों के मध्य की दूरी भी दी है, पर यत्र-तत्र उसने मूल-मार्ग से थोड़ा इधर-उधर हटकर स्थित रोम नगर, सासता नगर जैसे नगर नामों को भी नामावली में स्थान दे दिया है। वह इनके अतिरिक्त भी जहां एशिया के अन्य अनेक नगरों में जैन प्रभाव होने की सूचना देता है, वहीं इस्तंबूल से उत्तर में स्थित सहस्रमुखी गंगानदी के पूर्व में बौद्ध-धर्म की व्याप्ति और पश्चिम में स्थित तारातंबोल से लगाकर लाट देश तक के विस्तृत क्षेत्र में जैन-धर्मी जनता के निवास की सूचना देता है। वह तारातंबोल से १०० गाउ (गव्यूति=दो कोस या चार मील) दूर किसी स्वर्ण कांति नगरी में भी जैन धर्म का प्रभाव होना बताता है।

बुलाकीदास के विभिन्न यात्रा-विवरणों में कतिपय प्रसिद्ध नगरों में राज कर रहे राजवंशों के नाम भी दिये हैं, यथा—इस्पहान में तिलंग, इस्तंबूल में रोमसोम, खुरासान में रावीर, तारातंबोल में जै चंद्रसूर, चन्द्रसूर या सूरचंद्र। जबकि शील-विजय ने खुरासान में हुनसान, इस्तंबोल में तिलंग, तारातंबोल में सूरचन्द्र और स्वर्णकान्ति नगरी में कल्याण सेन को राज करते बताया है।

दूसरा विवरण मिलता है अहमदाबाद के व्यापारी पद्मसिंह की सपरिवार दूर देशान्तर की यात्रा का। यह विवरण स्वयं पद्मसिंह ने यात्रा से लौटकर हैदराबाद से अहमदाबाद में रह रहे रतनचंद भाई को लिखे अपने पत्र में किया

१. जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ५, अंक २।
२. जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ६, अंक ६।
३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—२३ जून, १९५९।
४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६४, अंक २ (सं० २०१६)

था। यह पत्र भी स्वर्गीय मुनि श्री कान्तिसागर ने प्रकाशित करा दिया है। पद्मसिंह ने यह यात्रा सं० १८०५ में प्रारंभ की थी और १६ वर्ष बाद सं० १८२१ में वह लौटकर सकुशल स्वदेश आया था। उसकी यात्रा का मार्ग इस्तंबूल[1] तक प्रायः वही रहा है जो बुलाकीदास का रहा है, पर उसके आगे वह अजितनाथ के मंदिर से युक्त किसी ताल, तलंगपुर, चंद्रप्रभु तीर्थ, नवापुरी पाटण और तारा-तंबोल (द्वितीय) की यात्रा का विवरण देता है। पद्मसिंह इस्पहान को आशापुरी तथा इस्तंबूल को तारातंबोल नाम देता है। ऐसा वह संभवतः विस्मृति से अथवा ध्यान चूक जाने से प्रवाह में लिख गया है।

शीलविजय की तीर्थमाला के समान ही दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत[2] से प्रकाशित ऐसी ही एक अन्य तीर्थमाला में भी उत्तर दिशा के तीर्थ-वर्णन में पूर्व से पश्चिम में बहने वाली गंगा नदी के किनारे पर अनेक जैन मंदिरों की विद्यमानता का उल्लेख किया गया है। उसमें तारातंबोल में भी जैन मंदिरों और मूर्तियों की वंदना के साथ-साथ किसी 'जवला गवला' नामधारी शास्त्र की विद्यमानता की भी सूचना दी है। तीर्थमाला में तारातंबोल के मार्ग में मांगीतुंगी पर्वत पर २८ हाथ (४२ फुट) और ४८ हाथ (७२ फुट) आकार की मूर्ति का भी उल्लेख किया है, जिसके पांव के अंगूठे पर २८ नारियल ठहर सकते थे। इसी प्रकार एक ऐसे सरोवर का भी उल्लेख किया है जिसमें ६ हाथ × १० हाथ आकार की शान्तिनाथजी की प्रतिमा स्थित थी।

पद्मसिंह ने इस्तंबूल में मुकुट स्वामी की ३८ हाथ × २८ हाथ (५७ फुट × ४२ फुट) आकार की निराधार खड़ी मूर्ति का विवरण दिया है, जिसके पांव के अंगूठे पर भी उपर्युक्त मांगीतुंगी पर्वत पर खड़ी मूर्ति के पांव के अंगूठे के समान २८ नारियल रखे जा सकते हैं। प्रतीत होता है दोनों वर्णन एक ही मूर्ति के हैं। इस्तंबूल में निराधार खड़ी इस विशाल मूर्ति का वर्णन हमें इसी नगर में खड़ी हरक्यूलीज की उस विशाल मूर्ति की याद दिलाता है जो विश्व के आठ आश्चर्यों में से एक माना जाता रहा है। पद्मसिंह इस्तंबूल से ६०० कोस की दूरी पर स्थित किसी ताल में अजितनाथ की २० हाथ × ६ हाथ या ३० × ६ वर्ग फुट आकार की मूर्ति की विद्यमानता का वर्णन करता है, जहां उसे नाव के द्वारा जाना पड़ा था। वह वहां से ५०० कोस दूरस्थ तलंगपुर नगर का वर्णन करता है और सूचना देता है कि वहां २८ जैन मंदिर थे। तलंगपुर से वह ७०० कोस दूर नवापुरी पट्टन जाता है—मार्ग में किसी चन्द्रप्रभु के मंदिर के दर्शन भी करता है। पर इस मंदिर का निश्चित स्थान वह नहीं देता। नवापुरी पट्टन से ३०० कोस स्थित तारातंबोल

१. जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ४, अंक ३ (सं० १९९४ आसोज वदी ७)
२. मूलचंद किसनदास कापड़िया : वृहत् सामयिक पाठ और वृहत्प्रतिक्रमण, पृ० १६४

नगर का यह यात्री बड़ा ही सरस वर्णन करता है। इस नगर में उसने अनेक जैन मंदिर, जैन मूर्तियां, हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह देखे और जैन मुनि के दर्शन किये। सूरत से प्रकाशित दिगम्बर जैन तीर्थमाला में तारातंबोल में किसी 'जवला-गवला' नामक शास्त्र की विद्यमानता की सूचना पद्मसिंह के वर्णन में हस्तलिखित ग्रंथों के विद्यमान होने की पुष्टि करती है।

बुलाकीदास द्वारा प्रस्तुत किया गया तारातंबोल का वर्णन भी बड़ा ही सजीव है। वह लिखता है कि वहां का बादशाह हिन्दू है और जैन धर्मावलम्बी है। उसका नाम जैचंद्र सूर, चंद्रसूर या सूरचन्द्र है। वहां जैनियों के मंदिर सोने और चांदी के बने हैं। मूर्तियां रत्नों से जटित हैं। राजा के साथ प्रजा भी जैन धर्म को मानने वाली है तथा यह नगर सिंधु-सागर नाम की नदी के किनारे पर स्थित है। इसी के अन्य संस्करण में तारातंबोल के आस-पास स्थित मंदिरों की संख्या ७०० दी गई है तथा शहर के मध्य में आदीश्वरजी के विशाल मंदिर के स्थित होने की बात कही गई है, जिसमें १०८ जड़ाव की मूर्तियां थीं, प्रतिमाओं की वेदियां स्वर्ण-जटित थीं, आदीश्वरजी का सिंहासन भी जड़ाऊ था। मंदिर में ७०० मन सोने की ईंटों का उपयोग किया गया था तथा इस मंदिर में त्रिकाल पूजा होती थी। शीलविजय भी तारातंबोल का लगभग ऐसा ही वर्णन करता है। वह राजा के अनूपचन्द्र और त्रिलोकचन्द्र नाम के दो पुत्रों का भी उल्लेख करता है, तथा तारातंबोल में ३०० शिवालयों की विद्यमानता की भी सूचना देता है। इन सभी वर्णनों में यात्रा-मार्ग में पड़ने वाले अनेक नगरों के बाजारों, राजमहलों, राज-व्यवस्था आदि का भी वर्णन मिलता है, पर उन पर प्रकाश डालना इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है।

इन यात्रा-विवरणों में वर्णित अनेक नगरों के नामों से हम सभी परिचित हैं। काबुल, कंधार, इस्फहान, खुरासान और इस्तंबूल के नाम हमने सुने हैं। इस्फहान के क्रम में ही उल्लिखित सारस्तान नगर सीरस्तान प्रतीत होता है। बुलाकीदास के वर्णन को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्मसिंह ने इस्फहान को ही आशापुरी नाम दिया है। पद्मसिंह विस्मृति के कारण या लेखन-त्वरा में इस्तंबूल का नाम भी तारातंबोल दे गया है। यह भ्रम इस्तंबूल के भी तंबूलान्तक नाम होने के कारण हुआ प्रतीत होता है।

बुलाकीदास ने इस्तंबूल से आगे ५०० कोस पर बब्बर देश या बाबर नगर का नामोल्लेख किया है। शीलविजय उसे बबरकूल कहता है। वह लिखता है, "बबरकूल वशि पांचसे, पवन राज ईहा सुधि वसे"—अर्थात् इस्तंबूल से पांच सौ कोस दूर बबरकूल है जहां पवनराज का भी निवास है। यह वर्णन बैबिलोनिया के उन मूल पुरुषों की याद दिलाता है जो मतु या मर्तु (वैदिक मरुत) नाम के

वायु देवता के पूजक थे।[1] शीलविजय का बब्बरकूल-स्थित पवनराज की बैबलोनिया का 'मरुत' देवता की स्थापना से प्रतीत होता है कि यह बब्बरकूल बैबलोनिया ही होना चाहिए। यहां के निवासी भारत से निकले पणि और चोल ही माने जाते हैं। बैबिलोनिया सीरिया के दक्षिण, फारस के पश्चिम और अरब के उत्तर में स्थित प्रदेश है। पर यात्रा-मार्ग के अन्य नगरों को देखते हुए प्रतीत होता है कि कैस्पियन सागर के दक्षिणी तट पर बसे बाबुल को ही बावर, बब्बर या बब्बरकूल कहा गया होगा। पद्मसिंह ने अजितनाथ के मंदिर की दूरी इस्तंबूल से उतनी ही बताई है जितनी बुलाकी ने बाबर की, अत: अनुमान लगाया जा सकता है कि वह मूर्ति बाबर में ही रही होगी। तलंगपुर की स्थिति कहां रही होगी, निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। तलंग या तिलंग शब्द उन हूणों और तुर्कों के लिए प्रयुक्त शब्द है जो गोबी के रेगिस्तान, इस्सिकुल और सिर दरिया के ऊंचे पहियों की गाड़ी रखते थे। चीनी लेखकों ने इन्हें ही चीलेहीले या चिरके लिखा है। इसी से तेरेक और तुर्क शब्दों की भी उत्पत्ति हुई है।[2] यह शब्द सातवीं शती ई०तक तो प्रचलित था ही। बुलाकी ने इस्फहान में और शीलविजय ने इस्तंबूल में इसी जाति का राज्य होना बताया है। अत: प्रतीत होता है सिर दरिया के किनारे ताशकंद से थोड़ा उत्तर में बसा तुर्कीस्तान ही पद्मसिंह का तलंगपुर हो सकता है।

पद्मसिंह तलंगपुर या तुर्कीस्तान से नवापुरी पट्टण जाता है। नगर के अंत में पट्टन शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि यह कोई नदी या समुद्र के किनारे स्थित व्यापारिक नगर था। तुर्कीस्तान और नवापुरी के मध्य में वह चन्द्रप्रभु तीर्थ भी जाता है। इसकी स्थिति कहां रही होगी, कह पाना कठिन है, पर नवापुरी पट्टन ओब नदी की खाड़ी में बसा नोवा पोर्ट ही प्रतीत होता है, जिसकी स्थिति चन्द्रा-प्रभुजी से ७०० कोस कही गई है। तारातंबोल नवापुरी पट्टन से ३०० कोस दूर कहा गया है।

वास्तव में तारातंबोल किसी एक नगर का नाम नहीं है। ये ईर्तिश नदी के किनारे बसे तारा और तोबोलस्क नाम के दो नगर हैं। तारा ईर्तिश और इशिम के संगम पर बसा है और तोबोलस्क ईर्तिश और तोबोल के संगम पर। इन दो नगरों के मध्य की दूरी बहुत अधिक नहीं है, इसी से इनके नामों का प्रयोग एक-दूसरे की पहचान के लिए साथ-साथ किया गया है, जो एक सामान्य प्रथा रही है। बुलाकीदास, शीलविजय आदि इसे सिंधु सागर नदी पर स्थित बताते हैं। संभवत: ईर्तिश को ही सिंधु सागर कहा है। संभवत: ईर्तिश और भारतीय सिंधु नदी के रूसी उच्चारण ईंत में उच्चारण-साम्य के भ्रम से ऐसा किया गया है।

१. The name of the Babylonian storm—God was Matu, or Martu, which as we have seen, was the same as the Vedic Marut and must have been taken by Panis and Cholas to Babylonia.

२. राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास, खंड १, पृ० २३३-३४।

शीलविजय ने जिस सहस्रमुखी गंगा के पूर्व में बौद्धों और पश्चिम में जैन राज्यों की बात कही है—वह इस स्थिति में ओब नदी ही प्रतीत होती है, जिसमें उद्गम से सागर मिलन तक सहस्रों छोटी-मोटी नदियां आकर मिल गई हैं। बुलाकीदास के अनुसार तारातंबोल इसी तोबोल सिंधु (इर्तिश) के संगम पर बसा है। यह स्थिति तोबोलस्क के लिए एकदम ठीक बैठती है।

पद्मसिंह तारातंबोल से किसी टांगनव देश जाने की अपनी इच्छा का उल्लेख करता है और कहता है कि प्रभावचन्द्रजी ने वहां से आगे न जाने को कहा अतः उसे वहीं से लौट जाना पड़ा। मुनि कान्तिसागर ने और तदुपरान्त श्री नाहटा के लेख में छपा 'टांगानव' शब्द मुझे अशुद्ध प्रतीत होता है। यह टांडारव होना चाहिए जो टुंड्रा का ही अपरनाम हो सकता है। प्राचीन ग्रंथों में 'ङ' और 'ड' के लेखन की समानता के कारण ही टांडारव को टांगानव पढ़ा गया है। टुंड्रा अत्यधिक शीतप्रधान देश है अतः प्रभावचंद्रजी के द्वारा पद्मसिंह को दिये गए वर्जनादेश में यही कारण दिखाई देता है।

शीलविजय ने तारातंबोल से १०० गाउ (गव्यूति) दूर जिस स्वर्णकान्ति नगर का उल्लेख किया है वह 'अल्ताई' का संस्कृत रूप है। तुर्की और मंगोल भाषाओं में अल्ताई का अर्थ है स्वर्ण गिरि।[1] अल्ताई की पहाड़ियों में स्थित सोने की खानें अज्ञातकाल से ही सारे एशिया की सोने की मांग को पूरा करती रही है। अतः भारतीय व्यापारियों का भी अवश्य ही इन खानों से संबंध सदा से रहा होगा, यह कल्पना की जा सकती है।

शीलविजय ने जैन धर्मी प्रजाजनों से भरे-पूरे जिस लाट देश का तारातंबोल के साथ उल्लेख किया है वह स्पष्टतः लाटविया है। इन वर्णनों से अल्ताई से लाटविया तक की समस्त प्रजा जैन धर्मावलंबी सिद्ध होती है।

इन प्रदेशों और नगरों की सही स्थिति का ज्ञान हो जाने पर वहां के राजाओं और राजकुमारों के जैचंद्रसूर, चंद्रसूर, मुरचंद्र, कल्याण सेन, अनूपचंद्र या त्रिलोकचंद्र जैसे नामों के रखे जाने में हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हमें पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वहां भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव था और मंगलखान, आनंदखान और धर्मश्री जैसे भारतीय नाम रखने की वहां प्रथा थी।[2]

तारातंबोल में उपलब्ध जिस जैनशास्त्र का उल्लेख दिगम्बर तीर्थयात्रा में किया गया है, वह भी हमारे लिए विचार का विषय है। भारत में 'धवला' शास्त्र तो देखा और सुना जाता है पर 'जवला गवला' शास्त्र के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। मेरी मान्यता है कि यह शास्त्र उत्तरापथ के तीर्थों और

१. राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास, पृ० ५७।
२. राहुल सांकृत्यायन : बौद्ध संस्कृति, पृ० ४२८

नगरों आदि की भौगोलिक स्थिति से संबंधित रहा होगा जिसे किन्हीं भारतीय जैन विद्वान ने तारातंबोल में रहते हुए ही लिखा होगा। जवला यमाला या जेम्लिया का भ्रष्ट रूप है और गवला हिमालय के लिए प्रयुक्त रूसी भाषा के शब्द गिमलाई का।[1] रूसी में 'ह' को 'ग' लिखा जाता है। जेम्ल्या भी हिमालय का ही परिवर्तित फ़ारसी रूप है। भारतीय या ईरानी आर्य प्रवासियों ने ही संभवतः वहां पहुंचकर इस हिमाच्छादित प्रदेश को नव्य हिमालय या नोवाया जेम्ल्या नाम दिया[2] जो आज तक प्रचलित है। अतः 'जवला और गवला' का अर्थ हुआ 'हिमालय से जेम्ल्या' तक का शास्त्र। इस शास्त्र की उपलब्धि पर इस भूभाग में भारतीयों के प्रभाव से संबंधित कई एक रहस्यों का उद्घाटन संभव है।

कतिपय भारतीय नगरों के नामों के अतिरिक्त मुझे यह संदेह होता है कि ये वर्णन ठीक वैसे ही होंगे जो इन्होंने अपनी आंखों से देखा है। प्रतीत होता है किन्हीं प्राचीन विवरणों में इन्होंने अपने विवरणों को भी मिलाकर प्रस्तुत किया है— अन्यथा तुर्क जाति के लिए तिलंग शब्द का प्रयोग, बाबर या बैबिलोनिया के साथ अतीत में विस्मृत पवनराज का संबंध जैसी बातें जो उस काल में भारतीय सर्वथा भूल-से चुके थे, इन यात्रियों और तीर्थमाला रचने वालों के ध्यान में कैसे आतीं ? ये प्राचीन विवरण चौथी से छठी शताब्दी के होने चाहिए। इन स्थानों में भारतीयों ने पूर्वकाल में अवश्य ही अपने मंदिर, शिवालय आदि बनाये होंगे, शास्त्र लिखे होंगे, साधु-संत भी वहां रहते रहे होंगे, पर इस्लाम धर्म के प्रचार-प्रसार और पश्चिमी देशों की राजनीतिक उथल-पुथल ने भारतीयों के इन प्रदेशों से प्राचीन संपर्क को तोड़ दिया। बौद्ध धर्म के प्रभाव ने अपनी समान प्रकृति के जैन धर्म के अवशेषों को आत्मसात कर लिया और इसी से अब तक शोध-खोज करने वाले विद्वानों ने इसे बौद्ध धर्म से ही संबंधित कहा है। बौद्ध धर्मोपदेशकों ने भारत से बाहर जा-जाकर शताब्दियों तक धर्म-प्रचार किया—और जैन या वैदिक धर्मावलंबी प्रचारकों ने ऐसा नहीं किया होगा—यह बात समझ में नहीं आती। अतः विश्वास है कि ये यात्रा-विवरण और यहां प्रस्तुत किया जा रहा इन तीर्थों का स्थान-निर्धारण अवश्य ही इस दिशा में खोज के लिए प्रेरणा देगा।

१. रूसी हिन्दी छात्रोपयोगी शब्दकोश : संकलनकर्त्ता इ सोल्न्त्सेवा, संपादक डॉ० केसरीनारायण शुक्ल और पूर्ण सोमसुन्दरम्।
२. पं० रघुनंदन शर्मा—वैदिक संपत्ति, पृ० ४१५

मालवा में जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

•

डॉ० मनोहरलाल दलाल

मालवा सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से भारत का हृदय-स्थल है। उत्तर एवं दक्षिण के बीच स्थित होने से जैन धर्म का यह केन्द्र रहा है। मालवा का भू-भाग पश्चिम एवं उत्तर-पश्चिम में अरावली की पहाड़ियों, दक्षिण में विंध्याचल, पूर्व में बुंदेलखंड तथा उत्तर पूर्व में गंगा की घाटी से घिरा है। इसकी मालवा संज्ञा प्रसिद्ध मालवा गणतंत्र के कारण पड़ी है। प्राचीन भारत में यह भू-भाग आकूर, अवन्ति, अनूप एवं दशार्ण जनपद में विभक्त था, परंतु पांचवीं शताब्दी के अंत में अवन्ति प्रदेश का नाम मालव[1] पड़ा तथा सातवीं शताब्दी से संपूर्ण क्षेत्र को महा-मालव[2] और आठवीं शताब्दी से मालवा कहा जाने लगा। साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्यों से मालव प्रदेश में जैन धर्म का प्रचार, प्रसार एवं प्रगति विदित होती है।

भगवान् महावीर के जीवनकाल में ही जैन धर्म का प्रसार मालवा में होने लगा था। जनश्रुति के अनुसार महावीर स्वयं उज्जयिनी आए थे,[3] जो परवर्ती एवं अविश्वसनीय है; यद्यपि महावीर के समकालीन उज्जयिनी के शक्तिशाली शासक चंडप्रद्योत महासेन को जैन अनुश्रुति के आधार पर जैन मतावलंबी माना जाना चाहिए क्योंकि वैवाहिक संबंधों के कारण वह महावीर से संबद्ध था। प्रद्योत की उज्जयिनी, विदिशा एवं दशपुर में महावीर की चंदन-निर्मित जीवंतस्वामी की मूर्तियां प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया जाता है।[4] प्रद्योत के पुत्र गोपाल को गणधर सुधर्मा ने जैन धर्मानुयायी बनाया था[5] तथा प्रद्योत के अनुज कुमारसेन

१. एपिग्राफिया इंडिका, ६, पृ० २७१
२. मार्शल :मान्युमेंट्स आफ सांची, १, पृ० ३९४-९५ अभिलेख संख्यक ८४२
३. दि हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ३३
४. त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, पृ० १५७
५. जैन तीर्थ सर्व संग्रह, पृ० ३२२

को महाकाल-मंदिर में नरमांस-विक्रय को रोकने में अपने प्राण देने पड़े थे।[1] संभवत: महावीर के समय उज्जयिनी के अतिरिक्त दशपुर और विदिशा भी जैन धर्मानुयायियों के केंद्र थे। प्रद्योत का उत्तराधिकारी पालक भी जैन धर्मावलंबी प्रतीत होता है। नन्द सम्राट महापद्मनन्द के अंतर्गत भी मालवा में जैन धर्म का प्रसार हो रहा था। मौर्य युग में जैन धर्म का पश्चिमी भारत केंद्र होने लगा था जिसकी पुष्टि स्मारकों एवं जैन अनुश्रुतियों से होती है।

मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को परिशिष्टपर्वन में जैन कहा गया है तथा एक परंपरा के अनुसार उसने श्रुत केवली भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण कर भारत में मैसूर प्रदेश के श्रवण बेलगोला में संथारा द्वारा प्राण त्यागे थे।[2] अशोक के पौत्र संप्रति को जैन धर्म का अशोक मानकर संपूर्ण भारत में मंदिरों का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा का श्रेय दिया जाता है। संप्रति को आर्य सुहस्तिन ने जैन धर्म में दीक्षित किया था।[3] आर्य सुहस्तिन ने जीवंतस्वामी की मूर्ति के दर्शनार्थ उज्जैन के के प्रवासकाल में अवंति सुकुमाल को शिष्य बनाया था।[4] अवंति सुकुमाल की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्मृति में एक स्तूप निर्मित करवाकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी, इस स्तूप को कालांतर में कुडुगेश्वर कहा जाने लगा। उज्जयिनी को जैन-तीर्थ होने का गौरव प्राप्त था, फलत: चंडरुद्र, भद्रकगुप्त, आर्यरक्षित और आर्य आषाढ़ ने यात्रा की थी। वज्रस्वामी ने सिंहगिरि से ग्यारह अंग का अध्ययन कर दशपुर से अवंति आकर भद्रगुप्त से बारहवें अंग दृष्टिवादांग की शिक्षा ग्रहण की तथा दशपुर-निवासी आर्यरक्षित को नौ पूर्व और दसवें का अंश सिखाया था।[5] वज्रस्वामी शिष्यों सहित विदिशा के निकट रथावर्त्त पर्वत पर आए थे तथा निकट के कुंजरावर्त पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था।[6]

प्राचीन अनूप (नीमाड़) के कसरावद के निकट मौर्ययुगीन ११ स्तूप तथा विहार एवं सभागृह मिले हैं।[7] इस विहार के उत्खनन में कुछ मृद्भांड मिले हैं, जिन्हें यहां पर निवास करने वाले साधु प्रयुक्त करते होंगे। इनमें से कुछ भांडों पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं यथा—निगठस विहार दीपे, भूलदेवे, सिपालस, हरदीपे, भूलदेवे, रसख, परितारिकेष आदि। निगठस विहार दीपे से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ विहार से संबद्ध दीपक था; यद्यपि अभी तक इन अवशेषों को बौद्ध विहार से संबद्ध माना

१. प्रधानकृत क्रनोलॉजी ऑफ एंशिएण्ट इंडिया, पृ० ७२ एवं ३३५
२. इंडियन एंटीक्वरी, १८९२, पृ० १५७
३. वही, XI, पृ० २४६
४. वही, पृ० २४६
५. वही, पृ० २४७
६. जैन तीर्थ सर्व संग्रह, पृ० ३२५
७. इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली, XXV, पृ० १

जाता रहा है, जो कि पूर्वाग्रह मात्र है। यह जैन विहार ज्ञातजैन स्मारकों में सबसे प्राचीन होने से महत्त्वपूर्ण है। कसरावद के निकट का प्रदेश परमार युग में भी जैन धर्म का केंद्र ज्ञात होता है।

जैनाचार्य कालक को गर्दभिल्ल वंशीय उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के पिता प्रतिशोध लेने हेतु शक स्थान तक जाने का विवरण उपलब्ध है, जिसे सत्य मानने पर उज्जयिनी का जैन संघ शक्तिशाली विदित होता है। विक्रम संवत् प्रवर्तक इस विक्रमादित्य को जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा जैन धर्मानुयायी बनाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है।[1] दिगंबर जैन पट्टावली में भी विक्रमादित्य को जीवन के अंतिम चालीस वर्ष जैन धर्मों में वर्णित किया है।[2]

गुप्त सम्राटों के अंतर्गत सहिष्णुतापूर्ण नीति के कारण जैन धर्म की उन्नति हुई। विदिशा के निकट उदयगिरि की गुफा क्रमांक २० में उत्कीर्ण गुप्त संवत् १०६ (४२५ ई०) के अभिलेख शमदमयुक्त शंकर नामक व्यक्ति विस्तृत सर्प-कणों से भयंकर दिखने वाली जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ की मूर्ति गुफा-द्वार पर निर्मित करवाई थी।[3] इस अभिलेख से आचार्यभद्र एवं उनके शिष्य गोशर्मन का भी उल्लेख है। तालनपुर से संवत् ६१२ (५५५ ई०) में शा चंद्रसिंह द्वारा मंडपदुर्ग में स्थापित आदिनाथ की मूर्ति मिली है।[4] बेसनगर से सात फुट ऊंची कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर की विशाल मूर्ति मिली है, जो ग्वालियर संग्रहालय में है। मालवा के स्थानीय शासक महाराजाधिराज रामगुप्त के शासनकाल में स्थापित तीन तीर्थंकर पद्मासन मूर्तियां विदिशा में मिली हैं, जिनमें एक चंदप्रभु की और दूसरी पुष्पदंत की पाद पीठ-लेख से ज्ञात होती है।[5] गुप्त ब्राह्मी के इन मूर्ति-लेखों से चंद्र क्षमाचार्य क्षमण श्रमण के प्रशिष्य और आचार्य सर्प्पसेन-क्षमण के शिष्य चेलू क्षमण के उपदेशों से प्रभावित होकर रामगुप्त द्वारा ये मूर्तियां निर्मित करवाने का ज्ञान होता है। सामान्यतः इस रामगुप्त को समुद्रगुप्त का ज्येष्ठपुत्र और देवी चंद्रगुप्त नाटक के रामगुप्त से अभिन्न माने जाने का परामर्श दिया जाता है, जोकि समीचीन नहीं है। हर्षचरित[6] एवं हर्ष के ताम्रपत्रों[7] में उल्लेखित मालवराज देवगुप्त तथा तुमैन से प्राप्त एक सिक्के में ज्ञात सत्यगुप्त[8] इन मूर्तिलेखों के रामगुप्त के

१. दि पट्टावली समुच्चय, पृ० ४६, १०६
२. इंडियन एंटिक्वरी, XX, पृ० २४७
३. फ्लीट : गुप्त अभिलेख संख्यक ६१, पृ० २५८
४. विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृ० ५६८
५. जर्नल ऑफ ओरियंटल इंस्टिट्यूट, १८, भाग ३, पृ० २४७-५१
६. कावेल एवं थामस द्वारा अनूदित, पृ० १०१, १७२
७. एपिग्राफिया इंडिका, ४, पृ० २०८-११; वही, १, पृ० ६७
८. इंडियन आर्कियालाजी : ए रिव्यू, १९६७-६८, पृ० ६२

उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं, जिसे छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मालवा का एक स्थानीय राजवंश माना जाना चाहिए।

मालवा में निर्मित कई मंदिरों एवं प्रतिष्ठित मूर्तियों से पूर्वमध्यकाल में जैन धर्म के प्रसार एवं उत्थान का ज्ञान होता है। धार एवं उज्जयिनी परमारों के अंतर्गत जैन धर्म के केंद्र थे। बड़ौत में २५ जैन मंदिरों का एक समूह, बूढ़ी चंदेरी के जैनावशेष[२], राखेत्रा के जैनमंदिर[३] तथा ममोन[४], भोजपुर[५], ऊन[६], चंदेरी[७], गुरिला का पहाड़[८], बीथला[९], बीजवड़[१०], पूरगिलना[११], संधारा[१२], केथुली[१३] आदि के जैन मंदिरों से पूर्वमध्यकाल में जैन धर्म की लोकप्रियता विदित होती है। परमार-शासकों ने जैन विद्वानों को संरक्षण दिया तथा जैनाचार्यों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। जैन धर्म के उत्थान की दृष्टि से यह स्वर्णयुग था।

मूलसंघ की पट्टावलियों से विदित होता है कि भद्दलपुर से २७वें भट्टारक ने अपना केंद्र उज्जयिनी स्थानांतरित कर लिया था[१४], जो ५३वें भट्टारक माघचंद्र द्वितीय के द्वारा करीब १०८३ ई० में कोटा के बारन में स्थापित किया गया[१५]। बारन से ६४वें भट्टारक ने चित्तौड़ में अपना पट्ट केंद्र स्थानांतरित कर लिया था, जो कि मालवा से सम्बद्ध क्षेत्र रहे हैं।[१६] मूलसंघ का सरस्वती गच्छ एवं बलात्कर-गण की उत्पत्ति उज्जयिनी से ही मानी जाती है।[१७] मालवा के भट्टारकों में सिंह-नन्दि प्रसिद्ध है।[१८]

---

१. आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट १९२३-२४ पृ० १३३ तथा कनिंघम रिपोर्टस ७, पृ० ६४
२. आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट १९२४-२५, पृ० १६४
३. वही, पृ० १६६
४. वही, पृ० १६१
५. वही, १९२२-२३, पृ० ४६
६. वही, १९१८-१९, पृ० १७-१८
७. वही, १९२४-२५, पृ० १६४
८. वही, पृ० १६७
९. वही, पृ० १२६
१०. आर्कलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, वेस्टर्न सर्कल १९२१, पृ० १०६
११. वही, १९२०, पृ० ८१
१२. वही, पृ० ८८-९१
१३. वही, पृ० ९२
१४. इंडियन एण्टिक्वरी, २१, पृ० ५८
१५. वही
१६. वही
१७. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९१
१८. वही, पृ० ३७१

उद्योतनसूरि ने लगभग ९३७ ई० में मालवदेश से शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की थी तथा देवसेन ने धार के पार्श्वनाथ मंदिर में 'दर्शनसार' ९३३ ई० में पूर्ण किया था। जैन विद्वान अमितगणि, महासेन, धनपाल और धनेश्वर को वाक्पति मुंज ने संरक्षण दिया था।[१] परीक्षामुख का रचयिता माणिक्यनंदि भी संभवतः इसी समय धार में आवसित थे, जिनके अग्रज पद्मनन्दि, विष्णुनन्दि, वृषभनन्दि, रामनन्दि और त्रैलोक्यनन्दि का उपदेश एवं कर्मक्षेत्र मालवा ही था।[२] प्रसिद्ध जैनाचार्य प्रभाचंद्र के प्रति परमार भोजदेव ने आदर प्रदर्शित किया था तथा जैन-विद्वान् धनपाल ने उसके अनुरोध पर तिलकमंजरी की रचना कर सरस्वती विरुद प्राप्त किया था। भोज के शासनकाल में जैन धर्म एवं साहित्य की प्रगति हुई। दुबकुंड के १०८८ ई० के अभिलेख से विदित होता है कि भोज के राजदरबार में वृषभनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। शेरगढ़ के ११३४ ई० के अभिलेख में नरवर्मन के शासन में नवचैत्य में नेमिनाथ का उत्सव मनाने का विवरण है।[३] देवपाल ने अपने पुत्र एवं संबंधियों तथा कोषवर्धन की गोष्ठी के साथ रत्नत्रय का प्रतिष्ठा समारोह किया था।

परवर्ती परमार शासकों के राजक्षेत्रों में जैन विद्वानों एवं आचार्यों के द्वारा जैन धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। धार में निवास करने वाले धरसेन का शिष्य महावीर जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं का विद्वान् था तथा परमार शासक विंध्यवर्मन पर उसका बहुत प्रभाव विदित होता है।[४] पं० आशाधर[५] मुस्लिम आक्रांताओं के भय से माण्डलगढ़ से ११९२ ई० में धार आए और आचार्य महावीर को प्रणामाञ्जलि से सम्मानित किया था। आशाधर जैन विद्या का प्रकांड पंडित था तथा तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक साहित्य-सृजन किया, इन्होंने पांच परमार शासकों—विंध्य वर्मन, सुभट वर्मन, अर्जुन वर्मन, देवपाल और जैतुगिदेव का नामोल्लेख किया है। आशाधर की महाकवि बिल्हण ने अत्यंत प्रशंसा की है। बाल-सरस्वती महाकवि बिल्हण ने आशाधर से काव्यशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी तथा पंडितजी के पिता और पुत्र को अर्जुन वर्मन ने उच्चपद पर नियुक्ति दी थी। आशाधर ने विशाल कीर्ति, अर्हदास, देवचंद्र जैसे विद्वान् शिष्य तैयार किये थे, जिन्होंने उल्लेखनीय जैन साहित्य सृजन के द्वारा जैन धर्म की सेवा की।

जिनपति सूरि ने धार के शांतिनाथ मंदिर में विधिमार्ग की ११९७ ई० में

१. पेटर्सन रिपोर्ट्स संख्यक-४, प्रस्तावना, पृ० ३
२. गुरु गोपालदास वरैया स्मृतिग्रंथ, पृ० ५४३
३. एपिग्राफिया इंडिका, २१, पृ० ८०
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७
५. वही, पृ० ३४२

स्थापना की थी।[1] तेरहवीं शताब्दी में उज्जयिनी जैन संघ के देवधर प्रमुख थे[2], जिनकी मृत्यु १२७० ई० में तथा उसके तेरहवें दिन उनके पट्टधर विद्यानन्द सूरि की विद्यापुरी में मृत्यु हो गई, फलतः धर्मकीर्ति उपाध्याय को धर्मघोष सूरि के नाम से पट्टधर बनाया गया, जो १३०० ई० में मृत्यु को प्राप्त हुए। इन आचार्यों ने मालवभूमि में जैन धर्म के प्रसार-हेतु प्रयत्न किये थे। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व के प्रतिष्ठित जैन तीर्थों का जिनप्रभ सूरि द्वारा लिखित विविध तीर्थ में विवरण है। उज्जयिनी में कुडुगेश्वर, मंगलपुरा में अभिनंदनदेव, दशपुर में सुपार्श्व और भैल-स्वामीगढ़ (भेलसा) में महावीर को इस प्रदेश के प्रसिद्ध जैन तीर्थ वर्णित किया गया है।[3] मदनकीर्ति ने अपने ग्रंथ शासन चतुसीरिंशतिका[4] में मंगलापुर के शांतिसेन ने कई विद्वानों को वादविवाद में परास्त किया था।[5] सुराचार्य और देवभद्र को भी भोज का संरक्षण प्राप्त हुआ था। प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर ने धारानगरी में संभवतः भोज के ही समय जैन धर्म का उद्घोष किया था। इसी समय जैन कवि नयनंदि ने १०४३ में लिखित सुदर्शन चरित में धार के जिनवर विहार का उल्लेख किया है[6]। भोज के संरक्षण में श्रीचंद ने पुराणसार की रचना की तथा रविषेण के पद्मचरित और पुष्पदंत के महापुराण पर टीकाएं लिखीं। नेमीचंद्र ने आश्रमनगर में भोज के राज्यकाल में मांडलिक श्रीपाल के समय लघुद्रव्य संग्रह की रचना की थी। भोजदेव के शासनकाल में सागरनन्दि ने भोजपुर के जैन मंदिर में नेमीचंद्र सूरि के द्वारा तीर्थंकर मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई थी।[7] भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह ने भी प्रभाचंद को सम्मान दिया था।

ऊन में जैन मंदिरों का विशाल समूह है, जो ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में निर्मित हुए थे, यहां के मंदिरों से भोजदेव के भ्राता उदयादित्य के दो अभिलेख और नरवर्मन के समय का सर्पबंध अभिलेख मिला है।[8] नरवर्मन की जैन विद्वानों और आचार्यों के प्रति असीम श्रद्धा थी। मालवा में तर्कशास्त्र का अध्ययन करने वाले जैन विद्वान् समुद्रविजय नरवर्मन के आश्रित थे। चित्तौड़ से धार की यात्रा करने वाले जिनवल्लभ सूरि के उपदेशों से प्रभावित होकर नर-वर्मन ने आचार्य की इच्छानुसार चित्तौड़ के दो खरतर मंदिरों को चित्तौड़ के

१. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली
२. Indian Antiquary, XI, p. 255
३. विविध तीर्थकल्प, ४७, ३२ एवं ८५
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७
५. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७४
६. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, संख्यक-३
७. एपिग्राफिया इंडिका, पृ० ३५
८. आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, १९१८-१९, पृ० १७-१८

शुल्कगृह से दो पारुत्थ द्रम्म प्रतिदिन देने की स्वीकृति दी थी।[1] जिनवल्लभ सूरि के पट्टधर जिनदत्त सूरि ने अपने शिष्यों को धार में वृतिपंजिकादि लक्षण शास्त्र का अध्ययन करने भेजा था तथा स्वयं ने उज्जयिनी, धार, चित्तौड़ और वागड़ प्रदेश में जैन धर्म के प्रचारार्थ यात्राएं की थीं।[2] नरवर्मन के शासनकाल में कई जैन मंदिर और मूर्तियों का निर्माण हुआ। भोजपुर की पार्श्वनाथ प्रतिमा के अभिलेख से विदित होता है कि ११०० ई० में चिल्लन ने उसे नरवर्मन के राज्यकाल में स्थापित किया था।[3]

११०९ ई० में अर्थूना अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि भूषण ने वागड़ के परमार शासक विजयराज के राज्यकाल में उथूणक में एक जैन मंदिर का निर्माण और अभिनन्दन जिन को मालवा के अंतर्गत वर्णित किया है। जयानन्द ने नीमाड़ के वनों के निकट लक्ष्मी का 'प्रवासगीति' में तीर्थ रूप में उल्लेख किया है।[5] दाहोद से १२० कि०मी० के तालनपुर जैन तीर्थ में कई मंदिरों के अवशेष और मूर्तियां मिली हैं तथा ९६५ ई० के एक अभिलेख में इस स्थल को तुंगिपट्टन कहा गया है।[6] नीमाड़ का बड़वानी भी जैन तीर्थ है, जहां की बावनगजा मूर्ति प्रसिद्ध है तथा अभिलेखों से १२७६ ई० और १३३१ ई० में जैन मंदिरों का पुनर्संस्कार ज्ञात होता है। उनको भी वर्तमान में पावागिरि (द्वितीय) तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास किये जा रहे हैं।

दिगम्बर जैन पुरातत्व संग्रहालय उज्जैन में मालव प्रदेश से एकत्रित कर कई जैन मूर्तियां प्रदर्शित की गई हैं, जिनमें से कुछ के पादपीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख जैनाचार्यों, भट्टारकों, संघों, गणों, गच्छों आदि पर विशद प्रकाश डालते हैं। विक्रम संवत् के इन अभिलेखों में १३०८ के मूर्तिलेख[7] में वागड़ संघीय आचार्य कल्याणवर्धन, १३०८ के दूसरे मूर्तिलेख में लाटवागड़ान्वय कल्याणकीर्ति,[8] १३०८ के तीसरे मूर्तिलेख में बागड़ान्वय कल्याणकीर्ति[9]; १३०८ के चौथे मूर्तिलेख में लाटवागड़संघे भट्टारक कल्याणकीर्ति[10], १३०८ के पांचवें मूर्तिलेख में ः

१. खरतरगच्छ वृहदगुर्वावली, पृ० १३
२. वही
३. एपिग्राफिका इंडिका, पृ० ३५
४. वही, २१
५. जैन तीर्थ सर्व संग्रह, पृ० ३१३ एवं ३२०
६. वही
७. मूर्तिसंख्यक १७
८. वही, २१
९. वही, १३०
१०. वही, १६३

पंडित भानुकीर्ति;[1] १३०८ के छठे मूर्तिलेख में वर्धमान पुरान्वय[2], १३०८ के सातवें दो मूर्तिलेख में प्रागवटान्वय[3], १३०८ के आठवें मूर्तिलेख में पोरवालान्वय[4], १३०६ के मूर्तिलेख में लाटवागड़संघे कल्याणकीर्ति[5], १३२६ के मूर्तिलेख में खंडेलकगच्छे[6], १२२२ के मूर्तिलेख में खंडेलन्वय[7], १२२२ के मूर्तिलेख में पोरवालान्वय[8], १२३१ के मूर्तिलेख में वर्कटान्वय[9], १२२० के मूर्तिलेख में आचार्यान्वय[10], १५०६ के मूर्तिलेख में श्रीकाष्ठासंघ वागड़संघे भट्टारक धर्मकीर्ति[11], १६६१ के मूर्तिलेख में तपागच्छ भट्टारक कीर्ति जयदेव[12], १६१० के मूर्तिलेख में श्री सेनाचार्येव[13], १४६६ के मूर्तिलेख में कुन्दकुन्दाचार्यान्वय भट्टारक पदमनन्दि ततपट्टे भट्टारक सकलकीर्ति[14], ११६० के मूर्तिलेख में श्रीकीर्ति के प्रशिष्य वसुपतिकीर्ति[15], १२२८ के मूर्तिलेख में माथुर संघे पंडिताचार्य धर्मकीर्ति और उनके शिष्य आचार्य ललितकीर्ति[16], बिना तिथि के मूर्तिलेख में मण्डलाचार्य गुणचन्द्र के प्रशिष्य और मण्डलाचार्य जिनचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य सकलचन्द्र तथा उनके गुरुभ्राता हेमकीर्ति[17] आदि का उल्लेख उपलब्ध है।

१. मूर्तिसंख्यक, १६४
२. वही, १२७
३. वही, १२६, पृ० १६३
४. वही, १६४
५. वही, २२७
६. वही, ३०
७. वही, ७१
८. वही, १६५
९. वही, १७१
१०. वही, १२४
११. वही, ३४
१२. वही, २०
१३. वही, ४५
१४. वही, ४७
१५. वही, १८१
१६. वही, २७३
१७. वही, ४७

महाराष्ट्र में जैन धर्म

•

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर

भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में जैन धर्म का प्रसार न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है। दक्षिण भारत, गुजरात, राजस्थान तथा बिहार में जैन धर्म के कार्य से संबद्ध ग्रंथ सुविदित हैं। महाराष्ट्र के विषय में ऐसा अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यहां मैं इस प्रदेश में जैन धर्म के प्रसार के विषय में प्राप्त प्रमुख संदर्भों का संक्षिप्त अवलोकन प्रस्तुत कर रहा हूं।

गुणभद्र के उत्तरपुराण (पर्व ६२ श्लो० २८०-२) के अनुसार ग्यारहवें और बारहवें तीर्थंकरों के मध्यवर्ती समय में प्रथम बलदेव विजय का विहार गजध्वज पर्वत पर हुआ था तथा जिनसेन के हरिवंशपुराण (सर्ग ६३ श्लो० ७२-७३) के अनुसार बाईसवें तीर्थंकर के समय अंतिम बलदेव बलराम का देहावसान तुंगीगिरि पर हुआ। ये स्थान महाराष्ट्र के नासिक और धूलिया जिले में तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाराष्ट्र में जैन साधुओं की गतिविधियों का विस्तार मौर्य साम्राज्य के समय (सनपूर्व तीसरी शताब्दी में) आचार्य भद्रबाहु तथा सुहस्ती के नेतृत्व में हुआ होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। इस प्रदेश में जैन साधुओं के विहार का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण वह संक्षिप्त शिलालेख है जो पूना जिले में पाला ग्राम के निकट एक गुहा में प्राप्त हुआ है। लिपि के आधार पर यह लेख सनपूर्व दूसरी शताब्दी का माना गया है। इसमें भदंत इंद्ररक्षित द्वारा इस गुहा के निर्माण का उल्लेख है (धर्मयुग १५-१२-१९६८ में डॉ० सांकलिया ने इसका सचित्र परिचय दिया है)।

महाराष्ट्र के प्रथम ऐतिहासिक राजवंश—सातवाहन वंश की राजधानी प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठण, जि० औरंगाबाद) में जैन आचार्यों के विहार के संबंध में कई कथाएं उपलब्ध हैं। प्रभावकचरित (प्रकरण ४) तथा विविधतीर्थकल्प (प्रकरण २३) के अनुसार आचार्य कालक ने इस नगर में राजा सातवाहन के आग्रह पर

पर्युषण की तिथि भाद्रपद शुक्ल पंचमी से बदलकर चतुर्थी की थी क्योंकि राजा पंचमी के दिन होनेवाले इंद्रध्वज उत्सव तथा पर्युषण उत्सव, दोनों में उपस्थित होना चाहता था। इन कथाओं में राजा का वंशनाम ही दिया है—व्यक्तिगत नाम नहीं है अतः इनकी ऐतिहासिकता परखना कठिन है। विविधतीर्थकल्प में दी हुई इस घटना की परंपरागत तिथि वीरनिर्वाण संवत् ९९३ (=सन् ४६६) सातवाहनों का राज्य समाप्त होने के काफी बाद की है। संभवतः इसीलिए प्रभावकचरित में तिथि का उल्लेख नहीं किया है।

प्रतिष्ठान से संबद्ध दूसरे आचार्य पालित्तय (संस्कृत में पादलिप्त) की कथा के (प्रभावकचरित, प्रकरण ५ तथा प्रबंधकोष, प्रकरण ५) अधिक सुदृढ़ आधार प्राप्त हैं। उद्द्योतन की कुवलयमाला (पृ० ३) में हाल राजा की सभा में पालित्तय की प्रतिष्ठा की प्रशंसा प्राप्त होती है। हाल द्वारा संपादित गाथा सप्तशती में प्राप्त एक गाथा (क्र० ७५) स्वयंभूछंद (पृ० १०३) में पालित्तय के नाम से उद्धृत है। सप्तशती की पीतांबरकृत टीका के अनुसार इसमें पालित्तय की ग्यारह गाथाएं हैं (क्र० ३९३-४, ४१७, ४२५, ४३३-४, ५७८, ६०९, ६२३, ७०६, ७२०) तथा भुवनपाल की टीका के अनुसार भी पालित्तय की गाथाओं की संख्या इतनी ही है यद्यपि इनके क्रमांक कुछ भिन्न हैं (७४, २१७, २५४, २५६, २५७, २६२, ३९३, ४३२, ५४५, ५७८, ५७९)। प्रभावकचरित में पालित्तय के गुरु का नाम नागहस्ति बताया है। भुवनपाल ने सप्तशती की चार गाथाएं (२०७, ३१५, ३४९, ३७३) नागहस्तिकृत बताई हैं (यहां गाथा क्रमांक श्री जोगलेकर के संस्करण से दिए हैं)। पालित्तय की तरंगवती कथा महाराष्ट्री प्राकृत का प्रथम प्रबंधकाव्य है। इसका संक्षिप्त रूपांतर प्रसिद्ध है।

जैन साहित्य में प्रसिद्ध तीन अन्य कथाएं सातवाहनयुग से संबद्ध हैं। हेमचंद्र के परिशिष्ट पर्व (प्रकरण १२-१३) के अनुसार आर्य समित ने अचलपुर (जि० अमरावती) के कई तापसों को जैन धर्म की दीक्षा दी थी तथा इनकी शाखा ब्रह्मदीपिका शाखा कही जाती थी। इसी कथा के अनुसार आचार्य वज्रसेन ने सोप्पार नगर (वर्तमान बंबई के निकट) में नागेंद्र, चंद्र, निर्वृति तथा विद्याधर को मुनि-दीक्षा दी थी। इनके नामों से जैन साधुओं की चार शाखाएं प्रसिद्ध हुई थीं। वज्रसेन की परंपरागत तिथि वीरनिर्वाण संवत् ६१७ (=सन् ९०) है (मुनि दर्शनविजय संपादित पट्टावली समुच्चय भाग १, पृ० १८-२१) तथा समित इन्हीं के ज्येष्ठ समकालीन थे।

वीरसेनकृत षट्खण्डागमटीका धवला के प्रथम खंड में प्राप्त कथा के अनुसार आचार्य पुष्पदंत तथा भूतवलि वेण्णायड नगर से प्रस्थान कर आचार्य धरसेन के पास गिरनार पहुंचे थे। वेण्णायड (विन्यातट) का हरिषेणकृत वृहत्कथाकोष (कथा क्र० ९०) में निर्वाणक्षेत्र के रूप में वर्णन है जिससे प्रतीत होता है कि यह

स्थान वर्तमान वैरागढ़ (जि० चांदा) के समीप था (अनेकांत, वर्ष १६. पृ० २५६)। पुष्पदंत और भूतबलि का समय ई० सन् की दूसरी शताब्दी में अनुमित है।

सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान से जैन आचार्यों का संबंध सातवाहनयुग के बाद भी रहा, ऐसा प्रतीत होता है। प्रभावकचरित (प्रकरण ८) के अनुसार द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता प्रसिद्ध तार्किक आचार्य सिद्धसेन का देहावसान प्रतिष्ठान में हुआ था। प्रबंधकोष के अनुसार (प्रकरण १) आचार्य भद्रबाहु—जो प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के बंधु थे—का जन्म प्रतिष्ठान में हुआ था।

चौथी-पांचवीं शताब्दी से संबद्ध इन कथाओं के साथ इसी युग की एक अन्य कथा का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अनुसार प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समंतभद्र ने करहाटक (वर्तमान कराड, जि० सातारा) की राजसभा में वादविवाद में भाग लिया था (मल्लिषेण प्रशस्ति, जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ० १०२)।

धाराशिव (उस्मानाबाद) के तीन गुहामंदिर सादे होने पर भी यात्रियों के आकर्षण के केंद्र रहे हैं। करकंडु राजा द्वारा इनके निर्माण की कथा हरिषेण के बृहत्कथाकोष (कथा क्र० ५६), श्रीचंद्र के कथाकोष (संधि १८) तथा कनकामर के करकंडुचरित में प्राप्त होती है। करकंडुचरित की प्रस्तावना में डॉ० हीरालाल जैन ने इन गुहाओं का विस्तृत सचित्र परिचय दिया है। इनका निर्माण वादामी के चालुक्यों के राज्यकाल (छठी-सातवीं शताब्दी) में हुआ प्रतीत होता है (इंपीरियल गैजेटियर ऑफ इंडिया, खंड १९, पृ० २७०)। यहां की मुख्य पार्श्वनाथ प्रतिमा अग्गलदेव इस नाम से प्रसिद्ध थी।

राष्ट्रकूट राज्यकाल के महाराष्ट्र के जैन साहित्यिकों का एक प्रमुख केंद्र वाटग्राम था। नयनंदिकृत सकलविधिविधान के अनुसार ऊंचे जिनालयों से सुशोभित यह नगर वराड देश में था (जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग २, पृ० २७)। वराड महाराष्ट्र के पूर्व भाग के लिए आज भी प्रयुक्त होनेवाला नाम है। नयनंदि के कथनानुसार इस वाटग्राम में आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने धवला और जयधवला की रचना की थी तथा स्वयंभू और धनंजय कवि भी इसी नगर में हुए थे। संस्कृत के प्रथम श्लेषकाव्य द्विसंधान, नाममाला तथा विषापहारस्तोत्र के रचयिता के रूप में धनंजय प्रसिद्ध हैं। इनका समय आठवीं शताब्दी का अंतिम भाग है (डॉ० उपाध्येजी ने विश्वेश्वरानंद इंडोलॉजिकल जर्नल, भाग ८, पृ० १२५ में धनंजय के विषय में विस्तृत चर्चा की है, केवल निवासस्थान की चर्चा रह गई है)। अपभ्रंश के प्रथम प्रसिद्ध कवि स्वयंभू का भी प्रायः यही समय है। इनके पउमचरिउ, रिट्ठनेमिचरिउ तथा स्वयंभूछंद— ये ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं। पउमचरिउ के प्रथम संधि के अंत में स्वयंभू ने अपने आश्रयदाता के रूप में धनंजय का नामोल्लेख किया है। धनंजय, स्वयंभू तथा वीरसेन की कृतियों में रचनास्थान का उल्लेख

नहीं है। जिनसेन ने जयधवला की अंतिम प्रशस्ति में रचनास्थान का नाम वाटग्रामपुर बताया है किंतु प्रदेश का उल्लेख नहीं किया है। पं० प्रेमीजी ने इसे वर्तमान बड़ौदा का पुराना नाम माना था (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४३-५) किंतु नयनंदि के स्पष्ट वर्णन को देखते हुए अब वाटग्राम को पूर्व महाराष्ट्र में ही कहीं खोजना होगा।

जिनसेन के गुरु-बंधु विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने सं० ७५३ में नंदियड ग्राम में काष्ठासंघ की स्थापना की थी ऐसा वर्णन देवसेनकृत दर्शनसार (गाथा ३८) में प्राप्त है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस वर्णन में कुछ विप्रतिपत्ति प्रदर्शित हुई है (भट्टारक संप्रदाय, पृ० २१०)। किन्तु नंदियड (वर्तमान नांदेड, यह महाराष्ट्र के एक जिले का मुख्य स्थान गोदावरी तट पर है) के नाम से एक संघ अवश्य प्रवर्तित हुआ था। इस नंदियड संघ के शुभकीर्ति और विमलकीर्ति इन आचार्यों का उल्लेख मध्यप्रदेश में मंदसौर जिले के ग्राम बैखर से प्राप्त एक अभिलेख में मिलता है जिसकी तिथि दसवीं सदी में अनुमित है (ॲन्युअल रिपोर्ट ऑन इंडियन एपिग्राफी, १९५४-५५, पृ० ४५)। संभवत: यही संघ बाद में काष्ठासंघ के अंतर्गत नंदीतट गच्छ के रूप में प्राप्त होता है (इसका विस्तृत वृत्तांत हमारे भट्टारक संप्रदाय में संगृहीत है)।

जिनसेन के प्रति राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम, राज्यकाल सन् ८१४-७८) की श्रद्धा का उल्लेख उत्तरपुराण की प्रशस्ति में प्राप्त है। इस सम्राट् के नाम से अमोघवसति नामक जिनमंदिर नासिक के समीप चंदनपुरी ग्राम में बनवाया गया था। इसकी देखभाल के लिए अमोघवर्ष के प्रपौत्र इंद्रराज (तृतीय) ने सन् ९१५ में द्राविड़ संघ के आचार्य लोकभद्र के शिष्य वर्धमान गुरु को दो ग्राम समर्पित किए थे। इसी के समीप वडनेर ग्राम के जिनमंदिर के लिए भी इंद्रराज ने इन्हीं आचार्य को छह ग्राम दान दिए थे (इन दानों के ताम्रशासन डॉ० कोलतेजी द्वारा संपादित हुए हैं तथा मासिक सन्मति, नवंबर १९६७ में प्रकाशित हुए हैं)।

एलोरा (जि० औरंगाबाद) महाराष्ट्र में जैन शिल्प का प्रमुख केंद्र था। यहां की पांच जैन गुहाओं में प्रमुख गुहा का नाम इंद्रसभा है। इसके निर्माण के विषय में ज्ञानसागर की तीर्थवंदना में कहा गया है कि यह कार्य रॉयल राज द्वारा संपन्न हुआ था तथा उसे देखकर इंद्रराज प्रसन्न हुए थे (तीर्थवंदनसंग्रह, पृ० ९८ तथा १२५)। यहां उल्लिखित इंद्रराज उपर्युक्त इंद्रराज (तृतीय) ही प्रतीत होते हैं। शिल्प इतिहासज्ञों ने इन गुहाओं का निर्माण नवीं-दसवीं शताब्दी में हुआ, ऐसा मत प्रकट किया है (दि क्लासिकल राज, पृ० ४९९)। पूर्व महाराष्ट्र में प्रचलित परंपरा के अनुसार शिरपुर (जि० अकोला) के अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मंदिर का निर्माण भी एल राज द्वारा हुआ था। यह क्षेत्र, उभय संप्रदायों के जैनों के लिए

आज भी आकर्षण का केंद्र है।

राष्ट्रकूट राज्यकाल के कुछ लेखकों—शाकटायन, महावीर तथा पुष्पदंत के विषय में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनमें से पुष्पदंत का मूल निवास पूर्व महाराष्ट्र में रहा होगा ऐसा अनुमान किया गया है तथा उनके महापुराण आदि ग्रंथों में प्रयुक्त अपभ्रंश को राष्ट्रकूटकालीन मराठी यह नाम दिया गया है (प्राचीन मराठी जैन साहित्य, पृ० ८)।

बारहवीं शताब्दी के कई लेखों से महाराष्ट्र में जैनों की समृद्ध स्थिति का पता चलता है। कोल्हापुर और उसके समीपवर्ती बामणी तथा तेरदाल इन स्थानों से प्राप्त पांच शिलालेख बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हैं। इनसे विदित होता है कि शिलाहार वंश के राजा गंडरादित्य रूपनारायण के नाम से कोल्हापुर में रूपनारायणबसदि नामक जिनमंदिर का निर्माण हुआ था। माघनंदि यहां के प्रमुख आचार्य थे। सामंत निम्ब और गोंक इनके शिष्य थे। माघनंदि के शिष्य-परिवार में कनकनंदि, श्रुतकीर्ति, चंद्रकीर्ति, प्रभाचंद्र, माणिक्यनंदि तथा अर्हनंदि के नाम उपलब्ध होते हैं (इन लेखों का विवेचन जैनिज्म इन साउथ इंडिया, पृ० १२० पर डॉ० देसाई ने प्रस्तुत किया है)। कोल्हापुर के ही समीप अर्जुरिका (वर्तमान आजरे) नगर में आचार्य सोमदेव ने सन् १२०५ में शब्दार्णवचंद्रिका नामक व्याकरण-ग्रंथ की रचना की थी। तब वहां गंडरादित्य के वंशज भोजदेव का राज्य चल रहा था। यह ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है।

बारहवीं शताब्दी के ही कुछ अन्य लेख देवगिरि के यादवों के राज्यकाल हैं। राजा सेउणचन्द्र (तृतीय) ने सन् ११४२ में नासिक के समीप अंजनेरी ग्राम के चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के मंदिर को दो दूकानें दान दी थीं (इंडियन एंटिक्वरी, भाग १२, पृ० १२६)। धूलिया जिले के ग्राम सुलतानपुर से प्राप्त एक जिनमूर्ति के लेख से पुन्नाट गुरुकुल के आचार्य अमृतचन्द्र के शिष्य विजयकीर्ति का नाम ज्ञात होता है। यह लेख सन् ११५४ के आसपास का है (ॲन्युअल रिपोर्ट ऑन इंडियन एपिग्राफी, १९५९-६०, शिलालेख बी २३१)। उस्मानाबाद जिले के रामलिंग मुदगड ग्राम से प्राप्त लेख में अभयनन्दि और दिवाकरनन्दि आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं, यह भी बारहवीं सदी का है (उपर्युक्त १९६३-६४, शिलालेख बी ३३६)। अकोला जिले के पातूर ग्राम से प्राप्त सन् ११८८ के मूर्तिलेख में माणिकसेन तथा वीरसेन आचार्यों के नाम हैं (उपर्युक्त १९५४-५५, शिलालेख बी २६७)। इसी स्थान से इसी वर्ष का आचार्य धर्मसेन का समाधिलेख भी मिला है जिसमें उनके चार पूर्वाचार्यों के नाम भी हैं (अनेकान्त, वर्ष १६, पृ० २३६, श्री बालचन्द्र जैन ने इसका संपादन किया है)।

पन्द्रहवीं शताब्दी से महाराष्ट्र में जैनों की गतिविधियों के इतिहास के साधन विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कारंजा तथा लातूर के आचार्यों द्वारा स्थापित

मूर्तियों और उनके तथा उनके शिष्यों द्वारा लिखित मराठी रचनाओं से प्राप्त तथ्यों का संकलन हमारे 'भट्टारक संप्रदाय' तथा डॉ० अक्कोलेजी के 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' में उपलब्ध है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रदेश में हिन्दी की भी कई रचनाएं उपलब्ध होती हैं। छत्रसेन का द्रौपदीहरण, गंगादास की रविव्रतकथा, महीचन्द्र का कालीगोरीसंवाद, ज्ञानसागर की अक्षरबावनी, पामो कवि का भरत भुजबलचरित्र तथा धनसागर का पार्श्वनाथ छप्पय—ये इनमें से कुछ रचनाएं पठनीय हैं। ये सब सतरहवीं शताब्दी की हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र में जैनों ने प्राकृत, संस्कृत, मराठी तथा हिन्दी साहित्य एवं गुहा, मंदिर और मूर्ति-शिल्प के विकास में प्रशंसनीय योगदान किया है।

मेवाड़ में जैन धर्म

बलवन्तसिंह मेहता

मेवाड़ बनास और चम्बल नदियों तथा उनकी शाखाओं के कूलों व घाटियों में बसा हुआ है जहां अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त पुरातत्ववेत्ता डॉ० सांकलिया ने उत्खनन व शोध से एक लाख वर्ष पूर्व में आदिम मानव का अस्तित्व प्रमाणित किया है। भारत में पाषाणकालीन सभ्यता के सर्वाधिक शस्त्रास्त्र भी यहीं पाये जाने से मेवाड़ स्वत: ही भारत की मानव सभ्यता के आदि उद्गम स्थानों में आता है। आपड़ तथा बागौर की सभ्यताओं को सिंधु घाटी के मोहनजोदाड़ो के ही समान समुन्नत व स्वतंत्र सभ्यताएं घोषित करने से मेवाड़ जैन धर्म के 'कम्मे सूरा सो धम्मे सूरा' के अनुसार ज्ञान और शौर्य से आप्लावित जैन संस्कृति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहा है। इसे आदि सभ्यता व शौर्य की भूमि पाकर ही तीर्थंकरों से लेकर महान् धर्माचार्यों ने भी अपने पद-पद्म से पावन और पवित्र किया तथा इस भूमि को जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बनाकर यहीं से उन्होंने अपने धर्म का विस्तार किया। अत: यहां जैन धर्म का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है जितना उसका इतिहास माना जाता है।

मेवाड़ को मेदपाट के साथ प्राग्वाट भी कहा जाता है। मज्झमिका तथा आहाड़ इसके दो प्रमुख नगर थे। ये दोनों ही शब्द जैन धर्म की प्रिय भाषा और जनबोली अर्धमागधी के हैं जिनका अर्थ है आकर्षित करने वाला सुंदर नगर तथा षोडसी युवती-सी सुंदर नगरी। ये दोनों नगर जैन धर्म के आदि केन्द्र रहे हैं। शारदापीठ वसन्तगढ़ जैनियों का प्राचीन सांस्कृतिक शास्त्रीय नगर रहा है। संसार के प्रथम सहकार एवं उद्योग केन्द्र जावर का निर्माण और उसके संचालन का श्रेय प्रथम जैनियों को ही मेवाड़ में मिला है। दशार्णपुर जहां भगवान् महावीर का पदार्पण और आर्यरक्षित की जन्मभूमि और आचार्य महागिरि के तपस्या करने के शास्त्रीय प्रमाण हैं; नाणा दियाणा और नांदिया में जहां भगवान् महावीर की जीवन्त प्रतिमाएं मानी गई हैं वे सब इसी मेवाड़ की भूमि के अंग रहे

हैं। आज भी ऋषभदेव-केसरियाजी जैसा तीर्थ भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाएगा, जहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सतशूद्र, आदिवासी आदि सब बड़े प्रेम और भक्ति से दर्शनार्थ आते हैं और पूजा कर अपने को धन्य मानते हैं। और राणकपुर जैसा गोठवण तथा शिल्प योजना का भव्य विशाल व कलापूर्ण मंदिर अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

तीर्थंकरों द्वारा स्पर्शित भूमि

कृष्ण के चरणों की पूजा-शिला भारत में सर्वप्रथम मज्झमिका में मिलने से अनुमान है कि कृष्ण मथुरा से द्वारिका यहीं होकर गये और उन्हीं के अनुकरण से उनके चचेरे भाई नेमिनाथ भी मथुरा से गिरनार गये। मथुरा से गुजरात के बीच का मार्ग मेवाड़ से ही जाता है अतः नेमिनाथ के भी मेवाड़ आने का अनुमान है। पार्श्वनाथ नागवंशी थे। मेवाड़ में एकलिंगजी के पास नाग राजधानी नागदा में जैनों का तीर्थ केन्द्र था। यहीं भारत का प्रसिद्ध पार्श्वनाथ का मंदिर है जिसे खण्डहर अवस्था में पार्श्वनाथ के पदार्पण के बाद ही इसे महत्त्व दिया गया होगा। अतः कहा जा सकता है कि पार्श्वनाथ के यहां आने से ही नागदा का तीर्थ बना। इसके साथ ही जैन इतिहास में पार्श्वनाथ के सिंध के अहिछत्रपुर जाने की भी परम्परा चली आ रही है, जिसका मार्ग मेवाड़ से ही है।

जैन इतिहास की एक परम्परा के अनुसार महावीर भ्रमण करते हुए मंदसौर आये थे। उन्होंने वहां के राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी। उसके बाद 'नाणा दीयाणा नांदिया, जीवित स्वामी वांदिया' के अनुसार महावीर इन स्थानों पर होते हुए मेवाड़ के दक्षिण में ब्राह्मणवाड़ तक आये थे। इन ग्रामों में जाने के लिए मेवाड़ के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है तथा अभी डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक मंदसौर चित्तौड़ के क्षेत्र में था का ही हिस्सा था। और नाणा आदि स्थान तो मेवाड़ के साथ लम्बे काल तक थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथ ने भी महावीर के मेवाड़ में आने में तथ्य की संभावना बताते शोध पर बल दिया है। अतः प्राचीन समय से ही मेवाड़ का जैन धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

जैन पुरातत्व एवं कला—महावीर के समय मगध जैन धर्म का केन्द्र था, जो बाद में राजक्रांतिओं से मथुरा में केन्द्रित और राजस्थान, मालवा व गुजरात में विस्तृत हुआ। अशोक ने सारे देश में हिंसा-निषेधाज्ञा के शिलालेख लगवाये थे। उससे भी पहले का जैन धर्म का एक शिलालेख मेवाड़ में मज्झमिका नगरी में मिला है, जो इस प्रकार है—

"वीर (ा) य भगव (ते) चतुरासिति व (स)काये जलाभालिनिये रंनिविठ माझिमिके।"

इस शिलालेख को पुरातत्ववेत्ताओं ने महावीर के निर्वाण के केवल ८४ वर्ष

बाद का बताया है। इस शिलालेख की भाषा भी अशोक के शिलालेख की भाषा के समान और लिपि भी ब्राह्मी है। यह जैन शिलालेख भारत में पाये गए सभी शिलालेखों में प्राचीन तथा भारतीय इतिहास में प्रथम है। लिपि-अध्येता भी इसी शिलालेख से अपने अध्ययन का शुभारम्भ मानते हैं। इस शिलालेख का समय ४३३ वर्ष ईसा-पूर्व है।

इस शिलालेख के ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर मेवाड़ का जैन धर्म से संबंध महावीर के काल से ही पाया जाता है। महावीर के बाद समस्त जैनाचार्यों की पहली संगिति स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में हुई। स्थूलभद्र का स्वर्गवास वि० सं० २५४ ईसा-पूर्व में माना जाता है। अतः यह संगिति अवश्य ही इसके पहले हुई होगी। दूसरी संगिति स्कंदलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में हुई। इस संगिति में मेवाड़ का प्रतिनिधित्व करने वाले जैनाचार्यों को 'मज्झमिया' शाखा संबोधित कर विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया जिससे इस नगरी का प्रमुख जैन केन्द्र होना सिद्ध होता है। मज्झमिका का वर्णन महर्षि पाणिनि ने भी वस्त्र के संबंध में किया है, जो सारे भारतवर्ष में प्रसिद्ध था। पाणिनि के काल को कुछ लोग ई० पू० छठी शताब्दी बताते हैं तो कुछ ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी। मज्झमिका के इस शिलालेख से पाणिनि का काल भी आगे बढ़ता है और इस नगरी का भारत के प्राचीनतम नगरों में महावीर के काल से संबंध जुड़ जाता है। पाणिनि की व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि को अनद्यतनकाल का उदाहरण देने के लिए मज्झमिका नगरी के अतिरिक्त कोई अवलंबन नहीं मिला।

मज्झमिका का शिलालेख किसी जैनकृति के निर्माण की स्मृति-स्वरूप बनाया गया होगा। इसके साथ ही मेवाड़ में सबसे प्राचीन प्रतिमा उदयपुर के पास सविना गांव में उपलब्ध हुई है। यह आठवीं शताब्दि की जैन प्रतिमा है, जिसके संबंध में कन्नड़ भाषा में शिलालेख है। आयड़ में कन्नड़भाषी कर्नाटक व्यापारियों का यहां आकर व्यवसाय करना और यहां लोगधर्मी कार्यों में आर्थिक सहयोग देने के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। चित्तौड़ में अभी भी ऐसी जैन प्रतिमा विद्यमान है, जिस पर कन्नड़ भाषा में शिलालेख है।

अशोक के समय में उसकी आज्ञा से सारे देश में जीव-हिंसा निषेध थी। अतः मेवाड़ में भी निषेध होगी। अशोककालीन लिपि में मज्झमिका नगरी में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिला है जिसमें '(स) व भूतानं दयाथं' पाठ है, जो सर्व जीवों की दया के प्रचार के लिए लिखा गया है। अशोक के पौत्र सम्प्रति के हिस्से में मालवा और मेवाड़ के राज्य आए। वह जैन धर्म का प्रबल अनुयायी था तथा जनश्रुति के अनुसार उसने सहस्रों जैन मंदिर बनवाए। मेवाड़ में सातवीं शताब्दी तक जैन धर्मावलंबी मौर्य राजाओं का राज्य था जिससे यहां जैन धर्म का अच्छा

प्रचार-प्रसार रहा। बाप्पा रावल ने आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंतिम मौर्य राजा मान से मेवाड़ का राज्य प्राप्त किया। मेवाड़ का राजकुल ब्राह्मण एवं शैव होने के कारण राजपरिवारों में मांस-मदिरा का प्रयोग निषेध था। महाराणा प्रताप ने जब आमिषभोजी मानसिंह को उदयसागर पर दावत दी, तब भी खीर-पूरी व पकवान बनाये गए थे। अतः मेवाड़ के महाराणा तथा राजकुल धर्म-निरपेक्ष व अहिंसा के प्रबल पक्षधर रहे। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार जन-जीवन में भी इनका प्रचलन था और लोगों में अहिंसा व धर्म की प्रवृत्ति अधिक थी।

शासन-व्यवस्था में जैनों का योग

अलवर-निवासी भारमल जैन कावड़िया को राणा सांगा ने रणथम्भौर का किलेदार व अपने पुत्र विक्रमादित्य तथा उदयसिंह का अभिभावक नियुक्त किया। इन्होंने बाबर की कूटनीति से मेवाड़ राज्य के प्रवेशद्वार रणथम्भौर की रक्षा की तथा चित्तौड़ के तीसरे साके में वीरगति प्राप्त की। इनके पुत्र भामाशाह राणा प्रताप के सखा, सामंत, सेनापति व प्रधानमंत्री थे। इन्होंने मेवाड़ के स्वतंत्रता संग्राम में तन, मन, धन सर्वस्व समर्पण कर दिया। ये हल्दीघाटी व दिवेर के युद्धों में मेवाड़ के सेनापतियों में रहे तथा मालवा व गुजरात की लूट से इन्होंने प्रताप के युद्धों का आर्थिक संचालन किया। भामाशाह के भाई ताराचन्द हल्दीघाटी के युद्ध की बायीं हरावल के मेवाड़ी सेनापतियों में थे। इन्होंने जैन ग्राम के रूप में वर्तमान भींडर की स्थापना की तथा हेमरत्नसूरि से पद्मणि चरित्र की कथा को पद्य में लिखवाया और संगीत का उन्नयन किया। दयालदास अन्य जैन वीर हुए जिन्होंने अपनी ही शक्ति से मेवाड़ की स्वतंत्रता के शत्रुओं का इतिहास में अनुपम प्रतिशोध लिया।

मेहता जलसि ने अल्लाउद्दीन के समय चित्तौड़ हस्तगत करने में महाराणा हम्मीर की सहायता की। मेहता चिहल ने बनवीर से चित्तौड़ का किला लेने में महाराणा उदयसिंह की सहायता की। कोठारी भीमसिंह ने महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय द्वारा मुगल सेनापति रणबाज खां के विरुद्ध लड़े गए युद्ध में वीरता के अद्भुत जौहर दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महता लक्ष्मीचन्द ने अपने पिता नाथ जी महता के साथ कई युद्धों में भाग लेकर वीरता दिखाई और खाचरोल के घाटे के युद्ध में वीरगति प्राप्त की। मांडलगढ़ के किलेदार महता अगरचन्द ने मेवाड़ राज्य के सलाहकार व प्रधानमंत्री के रूप में सेवा की तथा मराठों के विरुद्ध हुए युद्ध में सेनापति के रूप में वीरता के जौहर दिखाये और महाराणा अरिसिंह के विषम आर्थिक काल में मेवाड़ की सुव्यवस्था की। इनके पुत्र मेहता देवीचन्द ने मेवाड़ को मराठों के आतंक से मुक्त कर मांडलगढ़ में उन्हें अपनी वीरता से करारा जवाब दिया। बाद में ये भी अपने पिता की भांति मेवाड़ के दीवान बनाये गए

और उन्होंने भी आर्थिक संकट की स्थिति में राज्य की सुव्यवस्था की।

तोलाशाह महाराणा सांगा के परम मित्र थे। इन्होंने मेवाड़ के प्रधानमंत्री पद के सांगा के प्रस्ताव को विनम्रता से अस्वीकार किया किन्तु अपने न्याय, विनय, दान, ज्ञान से बहुत कीर्ति अर्जित की। इन्हें अपने काल का कल्पवृक्ष कहा गया है। इनके पुत्र कर्माशाह सांगा के प्रधानमंत्री थे। इन्होंने शहजादे की अवस्था में गुजरात के बहादुरशाह को उपकृत कर शत्रुञ्जय मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। इनके अतिरिक्त और कई जैन प्रधानमंत्री हुए जिन्होंने मेवाड़ राज्य की अविस्मरणीय सेवाएं कीं। महाराणा लाखा के समय नवलाखा गोत्र के रामदेव जैनी प्रधानमंत्री थे।

महाराणा कुंभा के समय बेता भंडारी तथा गुणराज प्रमुख धर्मधुरीण व्यापारी व जैन वीर थे। इसी समय रत्नाशाह ने राणपुर का प्रसिद्ध मंदिर बनवाया। महाराणा विक्रमादित्य के समय के कुम्भलगढ़ के किलेदार आशाशाह ने बाल्य अवस्था में राणा उदयसिंह को संरक्षण दिया। मेहता जयमल अच्छावत व मेहता रतनचन्द खेतावट ने हल्दीघाटी के युद्ध में वीरता दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महाराणा अमरसिंह का मंत्री भामाशाह का पुत्र जीवाशाह था और महाराणा कर्मसिंह का मंत्री जीवाशाह का पुत्र अक्षयराज था। महाराणा राजसिंह का मंत्री दयालशाह था। महाराणा भीमसिंह के मंत्री सोमदास गांधी व मेहता मालदास थे। सोमदास के बाद उसके भाई सतीदास व शिवदास मेवाड़ राज्य के प्रधानमंत्री रहे। महाराणा भीमसिंह के बाद रियासत के अंतिम राजा महाराणा भूपालसिंह तक सभी प्रधानमंत्री जैनी रहे। द्वितीय महाराणा संग्रामसिंह के समय कोठारी भीमसिंह ने युद्ध में दोनों हाथों से तलवारें चलाकर जो रण-कौशल दिखाया वह इतिहास की अपूर्व घटना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड़ राज्य के आरम्भ से अन्त तक सभी प्रधान-मंत्री जैनी थे। इन मंत्रियों ने न केवल मेवाड़ राज्य की सीमा की कार्यवाहियों के संचालन तक अपने को सीमित कर राज्य की सुव्यवस्था की बल्कि अपने कृतित्व-व्यक्तित्व से जनजीवन की गतिविधियों को भी अत्यधिक प्रभावित किया और इस राज्य में जैन मंदिरों के निर्माण व अहिंसा के प्रचार-प्रसार के भरसक प्रयत्न किए। हम पाते हैं कि जिन थोड़े कालों में दो-चार अन्य प्रधानमंत्री रहे उन कालों में मेवाड़ राज्य में व्यवस्था के नाम पर बड़ी विषम स्थितियां उत्पन्न हुईं। इसलिए मेवाड़ के इतिहास के स्वर्णकाल में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले जैन अमात्यों के वंशधरों को महाराणाओं ने इस पद के लिए पुनः आमंत्रित किया और बाद में यह परम्परा ही बन गई कि प्रधानमंत्री जैनी ही हो।

मेवाड़ के प्रमुख जैन केन्द्र

आयड़—आयड़ में भारत भर के जैन व्यापारियों ने इसे व्यापार का केन्द्र बनाकर कई मंदिरों के निर्माण से जैन धर्म को लोक-धर्म बनाया। प्रद्युम्न सूरि ने आयड़ के राजा अल्लट से श्वेताम्बर सम्प्रदाय को राज्याश्रय प्रदान करवाया। अल्लट ने सारे राज्य में विशिष्ट दिनों में जीव-हिंसा तथा रात्रि-भोजन निषेध कर दिया। उसकी रानी हूण राजकुमारी हरियादेवी ने आयड़ में पार्श्वनाथ का विशाल मंदिर बनवाया। अल्लट के बाद राजा वैरिसिंह के समय आयड़ में जैन धर्म के बड़े-बड़े समारोह हुए और ५०० प्रमुख जैनाचार्यों की एक महत्त्वपूर्ण संगीति आयोजित हुई। वैरिसिंह के काल में असंख्य लोगों को जैन धर्म में दीक्षित कर अहिंसा जीवन की शिक्षा दी तथा सहस्रों हूण, शक आदि विदेशियों को जैन धर्म में दीक्षित कर उनका भारतीयकरण किया गया। आयड़ में महारावल जैत्रसिंह के अमात्य जगतसिंह ने ऐसी घोर तपस्या की कि जैत्रसिंह ने उन्हें 'तपा' की उपाधि दी और यहीं से 'तपागच्छ' निकला है, जिसके आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजकों के सर्वाधिक अनुयायी हैं।

चित्तौड़—चित्तौड़ आरम्भ से ही जैन धर्म का अच्छा केंद्र रहा तथा जैन मुनियों ने गुजरात व मालवा से यहां आकर निवास किया। यह जैन धर्म के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों का केन्द्र था। चित्तौड़गढ़ भारतवर्ष का एकमात्र क्षात्रधर्म का तीर्थ माना जाता है। वह मौर्य जैन राजा चित्रांगद का बसाया हुआ है। यह अनेक जैनाचार्यों की कर्मभूमि, धर्मभूमि और उनकी विकास-भूमि भी है। भारत के महान तत्त्व विचारक, समन्वय के आदि पुरस्कृता, अद्वितीय साहित्यकार एवं महान् शास्त्रकार हरिभद्र सूरि और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की एकमात्र विदुषी एवं तपस्विनी साध्वी याकिनी महतरा की यह जन्मभूमि है। जैन जगत् के विद्वान् मार्तण्ड सिद्धसेन चित्तौड़ की साधना के बाद ही दिवाकर के रूप में प्रकट हुए। जैन धर्म में फैले हुए अनाचार को मिटा उसे शुद्ध रूप में प्रकट करने के लिए जिनवल्लभ सूरि ने गुजरात से आ यहीं से आंदोलन आरम्भ किया जो सफल हो देश में सर्वत्र फैल गया है। हरिभद्र सूरि और जिनदत्त सूरि ने लाखों व्यक्तियों को प्रतिबोधिक कर उन्हें अहिंसक बनाया, उसका आरम्भ भी यहीं से हुआ।

दिगम्बर आचार्यों में यहां सर्वप्रथम एलाचार्य नामक प्रसिद्ध साधु का नाम आता है। वीर सेनाचार्य नामक साधु इनके पास विद्या प्राप्त करने आये थे, जिन्होंने बड़ौदा-वागड़ जाकर धवल टीका पूर्ण की। वीरसेन के शिष्य जिनसेन और गुणभद्र हुए जो दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रख्यात हैं। राजा अल्लट के शासन-काल में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में शास्त्रार्थ का उल्लेख तथा श्वेताम्बर

सम्प्रदाय को राज्याश्रय प्रदान करने का उल्लेख है। एक दिगंबर आचार्यश्री कीर्ति का नाम मिलता है जो नेमिनाथ की यात्रा पर जाते समय पाटन में रुके थे और वहां के राजा ने इन्हें मंडलाचार्य का विरुद तथा सुखासन भेंट किया। अपभ्रंश कथा-कोश के रचयिता श्रीचंद्र ने अपनी गुरु-परंपरा में भी कीर्ति का उल्लेख किया है, जिनके शिष्य आचार्य क्षुतिकीर्ति चित्तौड़ के परमार राजा भोज की राजसभा के सम्मानित सदस्य थे। कांटसंघ ताल बागड़ के पुल्लाट गच्छ में महेंद्रसेन नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है, जिसने 'त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित' नामक ग्रंथ की रचना की। वि० सं० १२०७ की चित्तौड़ की कुमारपाल की प्रशस्ति का रचयिता रामकीर्ति दिगंबर साधु था। ग्यारहवीं शताब्दी में आशाधर नामक मांडलगढ़ निवासी बहुत बड़े दिगंबर पंडित हुए जो मुस्लिम आक्रमणों के समय दक्षिण की ओर चले गये।

धर्म-प्रचारक साहित्यानुरागी श्रावक—लल्लिग, जिसने हरिभद्र सूरि के कई ग्रंथों का आलेखन कराया। आशाधर श्रावक बहुत बड़े विद्वान् थे। लोल्लाक श्रावक ने बिजोलिया में उन्नत शिखर पुराण खुदवाया। धरणाशाह ने जिवाभिगम, सूत्रावली, ओघ निर्युक्ति सटीक, सूर्य प्रज्ञप्ति, सटीक अंग विद्या, कल्प भाष्य एवं सिद्धान्त विषम पद पर्य्यय व छंदोनुशासन की टीका करवायी। चित्तौड़-निवासी श्रावक आशा ने 'कर्मस्तव विपाक' लिखा। डूंगरसिंह (श्रीकरण) ने आयड़ में 'ओघनिर्युक्ति' पुस्तिका लिखी। 'उद्धरसुनुतम हेमचंद्रेण ने 'दशवैकालिक पाक्षिक सूत्र' व ओघनिर्युक्ति लिखी। वयजल ने आयड़ में पाक्षिक वृत्ति लिखी।

आधुनिक जैन विभूतियां—यहां जैन लोगों ने इतिहास के निर्माण में भी बड़ी सही भूमिका निभाई। राजपूताना के मुणहोत नेण'सि के साथ कर्नल टाड के गुरु यति ज्ञानचंद, नैणसी के इतिहास के अनुवादक बा० रामनारायण दुगड़ व मेहता पृथ्वीसिंह का नाम इतिहासज्ञों में उल्लेखनीय है तो अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त पुरातत्ववेत्ता मुनि जिनविजय जी ने ऐतिहासिक सत्यों-तथ्यों के संग्रह से इतिहास की मूल्यों का सुरक्षात्मक भंडारण कर शोधार्थियों के लिए वरदानस्वरूप महान कार्य किया। आपको गांधीजी ने साग्रह गुजरात विद्यापीठ का प्रथम कुलपति बनाया। आप जर्मन अकादमी के अकेले भारतीय फैलो हैं। आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मश्री प्रदान कर समादृत किया। विज्ञान के क्षेत्र में श्री दौलतसिंह कोठारी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिक हैं। आपने स्वेच्छा से भारत के शिक्षामंत्री का पद नहीं स्वीकार किया। आप भारत की सैनिक अकादमी के प्रथम अध्यक्ष बनाए गये और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष पद से आपने अवकाश प्राप्त किया। आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मविभूषण प्रदान कर समादृत किया। डॉ० मोहनसिंह मेहता को भी विदेशों में भारतीय प्रशासनिक सेवा व शिक्षा में सेवाओं के उपलक्ष में पद्मविभूषण से

समादृत किया गया है। श्री देवीलाल सामर ने भारतीय लोक-कलाओं के उन्नयन में महान् कार्य किया है। आपने अंतर्राष्ट्रीय 'कठपुतली' प्रतियोगिता में भारत का प्रतिनिधित्व कर विश्व का प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। आप भारतीय लोककला मंडल के संचालक एवं राजस्थान संगीत-नाटक अकादमी के अध्यक्ष हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड़ के इतिहास व जैन धर्म तथा मेवाड़ के जीवन-क्षेत्रों में जैनियों की कृषि, वाणिज्य, वीरता व प्रशासन-कुशलता की चतुर्मुखी गतिविधियों में इतना संगुफन है कि इन्हें हम पृथक कर ही नहीं पाते। जैनियों ने मेवाड़ के धर्म, अर्थ, कर्म, ज्ञान, भक्ति, शक्ति सभी को चरम सीमा तक प्रभावित किया है और अपने अहिंसाजीवी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में ये लोग पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुंचे हैं।

● ●

लेखक-परिचय

१. मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य
द्वारा लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर
अहमदाबाद

२. डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

३. डॉ० प्रेम सुमन जैन, एम० ए० (पालि, प्राकृत एवं प्राचीन इतिहास), पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
सहायक प्रोफेसर— प्राकृत, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

४. डॉ० पी० एस० लांबा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०
कुलपति, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

५. (स्व०) डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०
भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष—स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय

६. प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०
टैगोर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष—प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

७. साध्वी संघमित्रा
संघ-आचार्यश्री तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

८. (स्व०) डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, ज्योतिषाचार्य
भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, जैन कॉलेज, आरा

९. डॉ० मूलचन्द्र पाठक, एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०
सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

१०. डॉ० बिहारीलाल जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

११. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, शास्त्री
निदेशक, साहित्य शोध विभाग, दि० जैन अ० क्षेत्र, महावीरजी
महावीर भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

१२. अगरचन्द नाहटा, जैन-सिद्धान्ताचार्य
नाहटों की गुवाड़, बीकानेर

१३. डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०
अधिष्ठाता, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर-४

१४. डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, एम० ए० (संस्कृत, प्राकृत), पी-एच० डी०,
साहित्याचार्य, जैन दर्शनाचार्य, न्यायतीर्थ
प्राध्यापक, जैन दर्शन, प्राच्य विद्या संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१५. प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० एस-सी०
अध्यक्ष, गणित विभाग, शासकीय महाविद्यालय, खंडवा (म० प्र०)

१६. प्रो० परमानन्द चोयल, एम० ए० (हिन्दी, चित्रकला)
अध्यक्ष, चित्रकला विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

१७. डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

१८. डॉ० ब्रजमोहन जावलिया, एम० ए०, पी-एच० डी०
राजस्थान प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, राजमहल, उदयपुर

१९. डॉ० मनोहरलाल दलाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, एल-एल० बी०
द्वारा डॉ० के० सी० जैन, प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

२०. डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, एम० ए०, पी-एच० डी०
शासकीय महाकौशल महाविद्यालय, जबलपुर (म०प्र०)

२१. श्री बलवन्तसिंह मेहता
रैन बसेरा, अस्पताल रोड, उदयपुर